

कोविदानन्दः

अनुवादक एवं व्याख्याकार
महामहोपाध्याय
डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी
एवं
कु० इन्दु अवस्थी, एम०ए०

828.1

भट्ट/आ/को

भट्ट/आ/को



इन्दु प्रकाशन, दिल्ली-६

आशाधरभट्टविरचितः

कोविदानन्दः

स्वोपज्ञ-कादम्बिनीव्याख्योपेतः

दीपिकाया हिन्दी-व्याख्याया च समलंकृतः



सम्पादक एवं व्याख्याकार

महामहोपाध्याय

डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी

एम० ए०, पी-एच० डी० साहित्य-सांख्ययोगाचार्य

एवं

कु० इन्दु अवस्थी एम० ए०



इन्दु प्रकाशन

द/३ रूप नगर, दिल्ली-७

© इन्दु प्रकाशन

८/३ रूप नगर, दिल्ली

(११०००७)

३११२४

२२२२१

(३१) की

प्रथम संस्करण

१९७८

मूल्य : पन्द्रह रुपये

मुद्रक :

शाकुन्तल मुद्रणालय

३४, बलरामपुरहाउस

इलाहाबाद-२

प्रकाशकीय

डा० अवस्थी के आठ मौलिक अथवा सम्पादित ग्रन्थों का प्रकाशन हमारे यहाँ से हो चुका है तथा इनके कुछ ग्रन्थ अन्य संस्थानों से भी प्रकाशित हुए हैं। इन ग्रन्थों का विद्वानों में पर्याप्त आदर हुआ है। आपकी एक अन्य मौलिक रचना पातञ्जल योग शास्त्र : एक अध्ययन को भी हमने प्रकाशन के लिए स्वीकार कर के प्रेस में दे दिया है। इसी बीच आपने वृत्तिसमुच्चय के विशाल संग्रहग्रन्थ की योजना हमारे सामने रखी। उनके प्रस्ताव को स्वीकार करते में साधनों की कमी बाधक थी, तो अस्वीकार करने में उनकी विद्वत्ता श्रम और उत्साह से मिलकर बना हुआ उनका प्रभाव बाधक था। थोड़े सोच-विचार के बाद हमने भी साहस करने का निश्चय किया, किन्तु इस शर्त के साथ कि वे इसे खण्ड में प्रकाशित कराने को तैयार हों। अन्त में यही निश्चय रहा कि इस ग्रन्थ को खण्डों में ही प्रकाशित करके विद्वानों के हाथों में प्रस्तुत किया जाए, इस क्रम में वृत्ति समुच्चय के प्रथम गुच्छक के प्रथम भाग का प्रकाशन हो चुका है, जिसमें अभिभावृत्तमातृका, शब्दव्यापारविचार एवं वृत्तिवार्तिक का संकलन हुआ है।

साधनों की कमी रहने के कारण और विद्वान् लेखक के प्रयाग में स्थित रहने के कारण प्रयाग के प्रेसों से ही हमने बात की और अलग-अलग प्रेसों को मुद्रण का कार्य शीघ्रता के लिए दिया गया। फिर भी हमें अपेक्षा से अधिक देर इस ग्रन्थ को आपके हाथों तक पहुँचाने में हो रही है, इसका हमें दुःख है।

वृत्तिसमुच्चय के इस खण्ड कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका को वर्तमान स्थूल स्वरूप देने का श्रेय क्रमशः शाकुन्तल मुद्रणालय के स्वामी श्री उपेन्द्रनाथ त्रिपाठी एवं इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स के स्वामी अग्रवाल बन्धुओं को ही है। मैं उनकी हृदय से आभारी हूँ, साथ ही इस ग्रन्थ के सम्पादक एवं व्याख्याकार डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी एवं कु० इन्दु अवस्थी एम० ए० की अत्यन्त आभारी हूँ कि उन्होंने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए हमें अवसर प्रदान किया है।

सुशीला शास्त्री

निवेदन

कुछ वर्षों पूर्व भाषाविज्ञान का अध्यापन करते हुये अर्थविज्ञान के प्रकरण में अर्थविषयक आधुनिक चिन्तन को छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अकस्मात् मेरा ध्यान प्राचीन आचार्यों द्वारा किये गये अर्थविचार की ओर गया। उस समय यह मन में हुआ कि छात्रों के समक्ष एतद्विषयक चिन्तन का एक क्रमिक इतिहास प्रस्तुत करते हुए उसे प्रस्तुत किया जा सके। इस प्रसंग में मैंने कुछ खोजना चाहा तो मेरा प्रयत्न अन्धकार में भटकने जैसा ही रहा। उसी समय यह विचार हुआ कि एतद्विषयक सामग्री का संकलन किया जाए। प्रयत्न करने पर जब कुछ जानकारी मिली तो ग्रन्थों को खोज पाना दुष्कर लगा। किन्तु गुरुजनों और मित्रों की सहायता से और कभी पुस्तकालय में प्रायः न पढ़ी जाने वाली पुस्तकों को पलटते हुए जो सामग्री मिल सकी है, उसे प्रस्तुत करने का संकल्प किया। समय और साधन के अत्यन्त सीमित रहने के कारण इस कार्य को यथा-समय कर पाना तो संभव न हुआ और न ही इच्छा के अनुरूप। हमारा विचार है कि मीमांसा सूत्र उसके भाष्य, न्याय-सूत्र और उसके भाष्य तथा इनके वार्त्तिकों इनकी टीका प्रटीकाओं तथा व्याकरण शास्त्र सहित इन शास्त्रों की परम्परा में लिखे गये ग्रन्थों की शब्दशक्ति (अर्थविज्ञान) विषयक सामग्री का एकत्र सम्पादन एवं एतद्विषयक लघु ग्रन्थों का व्याख्या सहित सम्पादन करके विद्वान् पाठकों के समक्ष एक साथ प्रस्तुत किया जा सके।

इस विषय में मैंने कुछ बड़े प्रकाशकों से चर्चा की, किन्तु उन्हें प्रायः उदासीन ही पाया। इस प्रसङ्ग में हम इन्दुप्रकाशन के व्यवस्थापकों के अत्यन्त आभारी हैं कि इन्होंने हमारे प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया। किन्तु किन्हीं कारणों से उनका यह विचार बना कि ऐतिहासिक क्रम को छोड़ करके भी अंशों में इस योजना को सम्पन्न किया जाए, तथा लघु ग्रन्थों का प्रकाशन सर्वप्रथम किया जाए। मुझे इस प्रस्ताव को विवशतापूर्वक स्वीकार करना पड़ा, क्योंकि इसके अतिरिक्त अपनी कल्पना को आंशिक रूप से भी साकार करने का कोई अन्य उपाय न था। फलतः इसी रूप में वृत्तिपमुच्चय आप के समक्ष क्रमशः प्रस्तुत हो रहा है।

मुझे विश्वास है कि शब्दशक्ति के सम्बन्ध में इस सामग्री को पाकर विद्वानों को प्रसन्नता होगी । इसी विश्वास के साथ यह विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत है ।

वृत्तिसमुच्चय के इस विशृङ्खलित रूप में सर्वप्रथम मुकुलभट्टकृत अभिधावृत्त-मातृका, मम्मटकृत शब्दव्यापारविचार, अप्पयदीक्षितकृत वृत्तिवार्त्तिक प्रस्तुत हो चुके हैं । आशाधरभट्टकृत कोविन्दानन्द एवं त्रिवेणिका आप के हाथ में हैं । शालिकनाथ कृत वाक्यार्थमातृकावृत्ति, वाचस्पतिमिश्रकृत तत्त्वविन्दु; पार्थसारथिमिश्र कृत वाक्यार्थ निर्णय; चन्द्रकान्त विद्यालंकार कृत शब्द मञ्जरी तथा मौनिकृष्णभट्ट कृत वृत्तिदीपिका शीघ्र पृथक्-पृथक् प्रस्तुत हो रही हैं । शब्दशक्तिविषयक सुविदित शब्दशक्ति प्रकाशिका आदि ग्रन्थ इसमें सम्मिलित नहीं है । बृहद् ग्रन्थों में से एतविषयक ग्रन्थांशों का सम्पादन हो रहा है, वे पाठकों के समक्ष बाद में प्रस्तुत हो सकेंगे ।

आशा है विद्वान् पाठक इस प्रसंग में अपने सुझावों से हमें कृतार्थ करेंगे । इस सम्पादन कार्य में मेरी पुत्री कुमारी इन्दु अवस्थी एम० ए० ने हमारे सहायक के रूप में कार्य करने का संकल्प लेकर सम्पूर्ण कार्य को स्वयं इस प्रकार सम्भाल लिया है कि सम्भवतः इनके बिना यह कार्य पूर्ण ही न हो पाता । इस अपूर्व सहयोग को मैं ईश्वर की कृपा मान कर स्वीकार कर रहा हूँ ।

—ब्रह्ममित्र अवस्थी

वैशाख पूर्णिमा सं० २०३५ वि०

कोविदानन्द विषयानुक्रमणी

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	भूमिका	१-१४
२.	मंगलाचरण	१
३.	अर्थबोध में शब्द की करणता	२
४.	अर्थबोध में संकेतज्ञान का हेतुत्व	३
५.	संकेत की व्यापार से भिन्नता	३
६.	संकेत के व्यापारत्व (न्यायमत) का खण्डन	४
७.	संकेत का लक्षण-भेद	५
८.	संकेत ग्रहण के उपाय एवं उनके उदाहरण	६
९.	अनेकार्थ में संकेत का कार्य	९
१०.	श्लेष स्थलों में संकेत का कार्य	९
११.	अनेकार्थक शब्दों का एक अर्थ में नियमन	११
१२.	संकेत विषय के उदाहरण	१५
१३.	मतान्तर प्रदर्शन	१६
१४.	वृत्ति की सिद्धि में अनुमान	२२
१५.	वृत्ति की त्रिविधता	२३
१६.	शब्दों के तीन प्रकार	२३
१७.	तात्पर्यवृत्ति का स्वरूप एवं उसके स्वतन्त्र वृत्तित्व का खण्डन	२४
१८.	वृत्ति के त्रैविध्य के उदाहरण	२४
१९.	लक्षणा का स्वरूप एवं उदाहरण	२८
२०.	न्यायशास्त्र-सम्मत लक्षणा का स्वरूप एवं उसका खण्डन	३०
२१.	भक्ति और लक्षणा	३१
२२.	लक्षणा के भेद एवं उनके उदाहरण	३१
२३.	सम्बन्ध-सामान्य का लक्षण	४१
२४.	सम्बन्ध-विशेष के लक्षण	४१
२५.	सारोपा एवं साध्यवसाना लक्षणा का परस्पर त्रैशिष्ट्य	४३
२६.	सारोपा एवं साध्यवसाना का विषय-विभाग	४४
२७.	व्यञ्जना का स्वरूप	४७

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
२८.	व्यञ्जना की अभिधा एवं लक्षणा से पृथक्ता	४७
२९.	व्यञ्जना के हेतु	४८
३०.	शाब्दी व्यञ्जना एवं उसके भेद	४८
३१.	आर्थी व्यञ्जना, उसके भेद एवं उसके सहायक	४८
३२.	शाब्दी व्यञ्जना के उदाहरण	४८
३३.	आर्थी व्यञ्जना के उदाहरण	४९
३४.	उभयशक्तिमूला व्यञ्जना के उदाहरण	४९
३५.	देशवैशिष्ट्य	५०
३६.	कालवैशिष्ट्य	५०
३७.	प्रकरणवैशिष्ट्य	५१
३८.	वक्तृवैशिष्ट्य	५१
३९.	वाक्यवैशिष्ट्य	५२
४०.	वाच्यवैशिष्ट्य	५२
४१.	साम्प्रिद्यवैशिष्ट्य	५२
४२.	काकुवैशिष्ट्य	५३
४३.	बोद्धव्यवैशिष्ट्य	५३
४४.	वैयाकरण मत में एक ही वृत्ति का त्रैविध्य	५४
४५.	व्यञ्जना का अन्तर्भाव प्रतिपादन	५४
४६.	व्यञ्जना के अन्तर्भाव का खण्डन	५५
४७.	व्यञ्जना का अनुमान में अन्तर्भाव एवं उसका खण्डन	६०
४८.	व्यञ्जना की पदनिष्ठता	६०
४९.	वेदान्तिमत समीक्षा	६२
५०.	पुष्पिका	६३

भूमिका

शब्द शक्तियों का विवेचन करने वाले ग्रन्थों में कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका ऐसे लघुग्रन्थ हैं, जिनमें अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना इन तीनों शक्तियों का संक्षिप्त किन्तु महत्त्व पूर्ण विवेचन हुआ है। लोकभाषा में वेणी शब्द का प्रयोग जलधारा एवं गुम्फित केशपाश आदि अनेक अर्थों में होता है, किन्तु वेणी पद के प्राधान्य में निष्पन्न त्रिवेणी पद प्रयाग में हुए गंगा यमुना और अस्तः सलिला सरस्वती के पवित्र संगम स्थल के लिए सुविदित है। आशाधरभट्ट ने इन ग्रन्थों में अन्यतम ग्रन्थ का त्रिवेणिका नामकरण करते हुए स्यं भी स्वीकार किया है कि इस नामकरण के मूल में अभिधा लक्षणा एवं व्यञ्जना पर क्रमशः गंगा यमुना और सरस्वती का आरोप रहा है।^१

अभिधा लक्षणा एवं व्यञ्जना इन तीन शक्तियों पर ही समस्त वाग्व्यापार मुख्यतः काव्यव्यापारनिर्भर है। इन शक्तियों का क्या स्वरूप है? इन तीनों के मानने की क्या आवश्यकता है? तथा इनकी सीमाएं क्या है? साथ ही इनके विवेचन का इतिहास क्या है? इन प्रश्नों पर विस्तृतरूप से विचार अभिधावृत्तमातृका शब्दव्यापार-विचार एवं वृत्तिवार्तिक की भूमिका एवं परिशिष्टोंमें पर्याप्त मात्रा में किया जा चुका है, जो वहीं द्रष्टव्य है। प्रासङ्गिक रूपसे यहां इतना ही कहना उचित होगा कि व्याकरण न्याय एवं मीमांसा शास्त्र के क्षेत्र में इन तीनों शक्तियों की अपेक्षा चाहे हो या न हो, किन्तु कवि का काव्य इन शक्तियों में अन्यतम के अभाव में इतना पङ्क हो जाएगा कि वह कवि के मनोभावों को सहृदय के मानस तक पहुँचाने में समर्थ ही नहीं हो सकता। न्याय व्याकरण या मीमांसा की अभिधा की सीमा जितनी है, कवि की अभिधा की सीमा उतनी संकुचित नहीं है, उसकी सीमा का विस्तार अपार है। उदाहरणार्थ हम कालिदास के एक वाक्य को देखें। दिलीप वसिष्ठ के निदेश से नन्दिनी की विधिवत् सेवा का संकल्प लेकर प्रातःनित्य नियम से निवृत्त होकर सुदक्षिणा द्वारा माल्य आदि से अभिपूजित नन्दिनी को दोहन एवं वत्सद्वारा दुग्धपान के अन्तर वन को चराने के लिए ले चलते हैं। नन्दिनीके खुर न्याय से पवित्र रेणु वाले मार्ग पर दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा भी कुछ दूर अनुगमन करती है—

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया ।

मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥ रघु. २.२ ।

१. शक्ति-भक्ति-व्यक्तिगङ्गायमुनागूढनिर्भराः ।

निर्वहन्त्यः सन्त्यत्र स्यात्तदेवा त्रिवेणिका ॥ पृ० १

कालिदास ने प्रस्तुत पद्य में 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' इस उपमा के द्वारा जो कहा है, उसे उसके बिना कथमपि नहीं कहा जा सकता। कोशकारों अथवा व्याकरण शास्त्र आदि के विद्वानों के अनुसार अनुगमन का तात्पर्य पीछे जाना है, यह पीछे जाना सावित्री द्वारा सत्यवान् को यम के पाशसे छुड़ाने के लिए यम के पीछे जाना भी हो सकता है; जहाँ अवसर पर कुछ मांगने की कामना है; किसी सेवक द्वारा स्वामी की यात्रा सामग्री लेकर उस की सुखसुविधा के लिए स्वामी के पीछे जाना भी हो सकता है। एक कृषक हालिक द्वारा हल चलाते किसान साथी के पीछे बीज डालने के लिए पीछे जाना भी हो सकता है। किन्तु 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' में इन प्रकारों का पीछे जाना नहीं है, इनसे सर्वथा भिन्न है। यह अनुगमन अनुगन्ता द्वारा अनुगम्यमान की मर्यादा (सीमा) का समग्र रूपसे ध्यान रखते हुए उसका पूरक होते हुए एक निश्चित सीमा में कर्तव्य पालन की तत्परतारूप है, जिसकी प्रतीति इस विशिष्ट उपमा के माध्यम से होती है, और अभिधा के द्वारा ही होती है। इसीलिए काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अलंकारों को भी विचित्राभिधा कहा है।^१ कवि उनका प्रयोग कुछ विशेष अर्थ के अभिधान के लिए करते हैं, जिसका अभिधान सामान्य शब्द नहीं कर पाते। इसीलिए कवियों की अभिधा की सीमा अन्य शास्त्रों में स्वीकृत अभिधा की सीमा से कुछ भिन्न है।

यही स्थिति काव्यगत लक्षणा की भी है। मीमांसा और न्यायशास्त्र में लक्षणा व्यापार अभिधा का पूरक है। मीमांसकों के अनुसार (कुमारिलभट्ट और उनके अनुयायियों के अनुसार) अभिधा द्वारा पदों से पदार्थों की प्रतीति होने पर आकांक्षा योग्यता एवं सन्निधिरूप सहकारिकारणों के रहने पर लक्षणा द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति होती है।^२ न्यायशास्त्र के आचार्यों अथवा प्रभाकर आदि मीमांसकों के अनुसार पदार्थों का वाक्यार्थ में अन्वय न हो सकने अथवा वाक्य के तात्पर्यभूत अर्थ

१ (क) तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकाररूपमादिभिः ।

बहुधा व्याकृतः सोऽन्यः । ध्वनिकारिका १.३

(ख) अलङ्काराणाञ्चाभिधात्वमुपगतं तेषां भङ्गीभणितिभेदरूपत्वात् ।

व्यक्ति विवेक पृ० १९

२ (क) कल्पनालाघवादाकांक्षादिलक्षणसहकारिप्रत्यासन्नैश्च समभिव्याहृतपद-
स्मारितैः पदार्थैः प्रत्यासत्या गम्यमानो वाक्यार्थो लाक्षणिकः ।

तत्त्वविन्दु पृ० १६१

(ख) वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति नः स्थितिः । वही . पृ० १५३

की प्रतीति न हो सकने पर अभिवेद्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, इस सम्बद्ध अर्थ की अवबोधिका शक्ति को ही गुणवृत्ति उपचार भक्ति अथवा लक्षणा कहा जाता है ।^१ अभिधा की सहायिका होने के कारण ही अनेकवार लक्षणा को 'अभिधा की पुच्छभूत' कहा गया है ।^२

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने लक्षणा की पूर्व आचार्यों द्वारा स्वीकृत परिभाषाओं को स्वीकार करते हुए भी उसे अभिधा की सहायिका मात्र नहीं स्वीकार किया है, अपितु उसे भी काव्यचारुत्व के हेतुओं में अन्यतम के रूप में ग्रहण किया है । उदाहरणार्थ हम आचार्य वामन की मान्यता को देख सकते हैं । उन्होंने सादृश्यमूलक लक्षणा को वक्रोक्ति अलंकार के रूप में स्वीकार किया है ।^३ जबकि उद्धट लक्षणा को ही रूपक अलंकार की परिभाषा के रूप में स्वीकार करते हैं ।^४ अग्निपुराणकार श्रीपाद, महिममट्ट एवं शीभाकरमित्र आदि कुछ आचार्य लक्षणा को एक स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार करते हैं^५ उनके अनुसार जहां सादृश्य के आधार पर एक अर्थ पर अन्य अर्थ का (अथवा पद पर पदान्तर का) आरोप किया जाता है और वह आरोप चारुत्वातिथ का हेतु होता है, तो उसे रूपक अलंकार कहते हैं । जहां उपर्युक्त प्रकार का ही आरोप सादृश्य पर आश्रित न होकर कार्यकारणभाव

१. (क) लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तिः । कारिकावली ८२ पृ० ३१६

(ख) वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तिः ।

तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणीच्यते ॥ वाक्यार्थमातृकावृत्ति पृ० ३६६

(ग) यस्य तु शब्दव्यापारावगम्यार्थपर्यालोचनयाऽवगतिस्तस्य लाक्षणिकत्वम् ।

अभिधावृत्तमातृका पृ० ५

(घ) श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादात्म्यमवसीयते ।

तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते गीणं यत्नोपपादितम् ॥ वाक्यपदीय २.२८०

(ङ) अतस्मिन्स्तत्समारोपो भक्तेर्लक्षणमिष्यते ।

अर्थान्तरप्रतीत्यर्थः प्रकारः सोऽपि शस्यते ॥ व्यक्तिविवेक १.६० पृ० ११६

२. अत एव साऽभिधापुच्छभूतेत्याहुः ।

३. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः । का० सू० वृ० ४. ३. ८०

४. श्रुत्या सम्बन्धविरहाद् यत्पदेन पदान्तरम् ।

गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत् ॥ काव्या. लंकारसारसंग्रह १.११.

५. लक्षणायाश्चालंकारत्वमुपपादितमेव । व्यक्तिविवेक पृ० ३११

आदि अन्य सम्बन्धों पर आश्रित हो वहाँ लक्षणा अलंकार स्वीकार किया जाना चाहिए, और जहाँ आरोप चाहे सादृश्यमूलक हो चाहे सादृश्येतर कार्यकारण भावादिमूलक, यदि वह केवल अभिवाशक्ति की सहायता से अविदित अर्थ की प्रतीति का हेतु होती है, चारुत्वातिशय की हेतु नहीं, उस स्थिति में वह लक्षणावृत्तिमात्र कही जाती है । यथा—

अथ मधुवनितानां नेत्रनिर्वेशनीयम्,

मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रवालम् ।

अकृतकविधिसर्वाङ्गीणमाकल्पजातम्,

विलसितपदमाद्यं यौवनं स प्रपेदे ॥ (रघु. १८.५२)

प्रस्तुत पद्य में कामदेव पर पुष्प का एवं यौवन पर पुष्पमधु एवं प्रवाल का सादृश्य मूलक चारुत्वातिशयपूर्ण आरोप किया गया है, अतः यहाँ रूपक अलंकार स्वीकार किया जाएगा । जबकि—

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्त्रिमप्रेक्षितम् ;

समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः ।

उरी मुकुलितस्तनं जघनमंसंवन्धोद्धुरम् ,

बतेन्दुवदना तनौ तरुणिमोद्धमो मोदते ॥

अथवा—

निःशवासान्धइवादशः चन्द्रमा न प्रकाशते ।

अथवा—

प्रयाते तु महारण्यं चिररात्राय राघवे ।

बभूव नगरे मूर्च्छा बलमूर्च्छा जनस्य च ॥

(वा. रा. अयो. ४०.१८)

इत्यादि पद्यों में लक्षणा अलंकार स्वीकार किया जाना चाहिए । इसके विपरीत 'कलिङ्गः साहसिकः', 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' 'छत्रिणो यान्ति' इत्यादि वाक्यों में लक्षणा चारुत्वातिशय का हेतु न होने से व्यापारमात्र है ।^१

१. विशेष विवरण के लिए लेखक द्वारा ही लिखित 'लक्षणालंकार' निबन्ध द्रष्टव्य है । संस्कृतरत्नाकर १९६६

व्यञ्जना वृत्ति की स्थापना तो काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा ही की गयी है, इसका एक मात्र कारण यह है कि मीमांसा एवं न्याय शास्त्र आदि के आचार्यों ने जिस भाषा की समीक्षा की है, अथवा उनकी विवेचना का जो उद्दिष्ट रहा है, उसमें व्यञ्जना व्यापार को कोई स्थान ही नहीं है। वैदिक कर्मकाण्ड के सन्दर्भ में अथवा प्रमाण प्रमेय आदि के पारिभाषिक विवेचन के सन्दर्भ में यदि व्यञ्जना का समावेश किया जाएगा तो निश्चय ही उन शास्त्रों का उद्देश्य ही समाप्त हो जाएगा। जबकि इसके विपरीत काव्यशास्त्र के आचार्यों का विवेच्य विषय कवियों की वाणी रही है। कवियों की वाणी में कवि के उन मनोभावों का अनुसन्धान भी अनिवार्य रहा करता है, जिसके बहन करने की क्षमता सामान्य भाषा में नहीं हुआ करती। कवि कभी प्रतीकों के माध्यम से और कहीं किसी भी प्रकार के स्थूल या सूक्ष्म सम्बन्ध के आधार पर अपने भावों को सहृदय^१ तक (सामान्य श्रोता तक नहीं) पहुंचाने का प्रयत्न करता है। उसकी भाषा में यह अपूर्व सामर्थ्य किसी अपूर्व शक्ति के बिना नहीं आ सकता। कवियों द्वारा भाषा को दी गयी इस अपूर्व शक्ति का अनुसन्धान, उसकी व्याख्या और तर्कपूर्ण युक्तियों से उसकी स्थापना का कार्य काव्यशास्त्र के आचार्यों को करना पड़ा है। दण्डी ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यादर्श के प्रारम्भ में ही—

‘इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा।

वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते’ ॥^२

पद्य में ‘शिष्ट’ पद द्वारा व्याकरण सम्मत वाणी का उल्लेख करके ‘अनुशिष्ट’ पद से इस अपूर्व शक्ति की ओर केवल संकेत मात्र किया था। शिलामेघसेन ने इसी कारिका को—

‘इह व्यक्तानुव्यक्तानां व्यक्तानामपि सर्वथा’^३

के रूप में परिवर्तित करके अनुव्यक्त पद द्वारा पर्याप्त मात्रा में स्पष्ट किया था। पर्यायोक्त आदि अलंकारों के माध्यम से अग्निपुराणकार दण्डी भामह उद्भट

१—येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयी-
भावयो यता ते सहृदयाः। ध्वन्यालोक लोचन पृ० ४०

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला ६७, चौखम्बा वाराणसी १९६५, संस्करण।

२—काव्यादर्श १, ३

३—सियवसलकुर १, ४

रुद्रट भोज आदि प्रायः सभी काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने कवियों द्वारा भाषा को दी गयी इस शक्ति को स्वीकार किया है। आचार्य आनन्दवर्धन अभिनवगुप्त एवं सम्मत आदि आचार्यों ने इस शक्ति को निर्भीक होकर न केवल स्वीकार किया, अपितु प्रबल युक्तियों से यह सिद्ध किया कि इस शक्ति को पहचान कर ही कवि के मनोभावों को समझा जा सकता है विशेषतः कोमल भावों को, जिसे रस की संज्ञा प्रदान की जाती है। अभिनवगुप्त ने तो आचार्य भरत के रससूत्र की जो व्याख्या भाषा में इस (व्यञ्जना) शक्ति को स्वीकार करते हुए की है, उससे उत्तम एवं पूर्णतया स्वीकार्य व्याख्या न तो भट्टलोल्लट भट्टशंकुक या भट्टनायक आदि दे सके और न उसके बाद के कोई प्राचीन या आधुनिक विद्वान्। इतना ही नहीं परवर्ती आचार्यों ने अभिनव गुप्त की व्याख्या के बाद कवियों द्वारा दी गयी भाषा की इस शक्ति को पूर्णतः स्वीकार कर लिया। कालान्तर में यह व्यञ्जना ही कविता की समीक्षा का मानदण्ड बन गयी।

इस व्यञ्जना व्यापार की सत्ता को चुनौती देने का साहस किया केवल महिमभट्ट ने। महिमभट्ट का विरोध भी उसकी सत्ता को स्वीकार करने के सन्दर्भ में नहीं था, उन्होंने केवल नैयायकों की अनुमिति की शैली में' किन्तु उससे भिन्न काव्यानुमिति के नाम से तर्क की कसीटी पर भी परखने योग्य एक नये साँचे में ढालने का प्रयत्न किया था,^१ किन्तु उसका भी प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने विरोध किया, यहां तक कि उनके टीकाकार रुच्यक ने भी उनकी मान्यता का खण्डन किया।^२ फलतः काव्यशास्त्र के क्षेत्र में मीमांसक आचार्यों से प्राप्त अभिधा और लक्षणा व्यापारों के अतिरिक्त व्यञ्जना व्यापार भी अन्ततः सर्वसम्मत बन गया।

१—काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः

संज्ञायां सा, केवलमेवापि व्यक्त्ययोगतोऽस्य कुतः ॥

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।

सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता ॥

व्यक्ति विवेक १, २६, २५

२—द्रष्टव्य व्यक्तिविवेकव्याख्यान १. २५-२६ ।

महिमभट्ट आदि कुछ आचार्यों द्वारा इस व्यापार को स्वीकार करने में सबसे बड़ी बाधा भी पद वाक्य अथवा प्रमाण शास्त्र के आचार्यों द्वारा इसका और कोई संकेत न करना रही है। फलतः काव्यशास्त्र के आचार्यों ने प्राचीन सिद्धांतों में ध्वनि का मूल खोजने का प्रयत्न किया और उन्हें व्याकरणशास्त्र के स्फोटवाद में व्यञ्जना (ध्वनि) सिद्धान्त का मूल दिखाई भी पड़ गया। व्याकरण शास्त्र के परवर्ती आचार्य नागेशभट्ट ने तो वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा में स्फोट की व्यंग्यता एवं निपातों की द्योतकता के लिए व्यञ्जना व्यापार को वैयाकरणों के मत में अनिवार्यतः स्वीकरणीय बना दिया है।^१

जैसा कि अभिधावृत्तमातृका की भूमिका में स्पष्ट किया जा चुका है कि मीमांसा की परम्परा में शब्दशक्ति का विवेचन करने वाले आचार्यों की सूची सुदीर्घ है। इस विषय में स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना करने वाले आचार्यों में वाक्यार्थ-मातृकावृत्तिकार शालिकनाथ एवं तत्त्वविन्दुकार वाचस्पतिमिश्र प्राचीनतम आचार्यों में हैं, इन्होंने अपने ग्रन्थों में क्रमशः अन्विताभिधानवाद एवं अभिहितान्वयवाद का प्रतिपादन एवं समर्थन किया है। पार्थसारथि मिश्र के न्यायरत्नमाला के अन्तर्गत 'वाक्यार्थ निर्णय' को भी स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, यद्यपि ग्रन्थकार ने न्यायरत्नमाला के अंग के रूप में ही उसका लेखन किया है। इस ग्रन्थ में भी अभिहितान्वयवाद का ही विवेचन किया गया है।

शब्दशक्तियों का विवेचन करने वाले जो ग्रन्थ हमें अबतक मिल सके हैं, उनमें सबसे प्राचीन अभिधावृत्तमातृका है, किन्तु इसमें व्यञ्जना वृत्ति की कोई स्वीकृति नहीं रही है। काल क्रम से द्वितीय ग्रन्थ मम्मट कृत शब्दव्यापार विचार कहा जाना चाहिए, जिसमें अभिधा लक्षणा एवं व्यञ्जना तीनों शक्तियों की चर्चा हुई है, किन्तु इसकी शब्दावली की काव्यप्रकाशगत एतद्विषयक विवेचन की शब्दावली से तुलना करने पर पता चलता है कि सम्भवतः मम्मट ने इसकी स्वतन्त्रग्रन्थ के रूप में रचना नहीं की है। बल्कि किसी प्रयोजन से काव्यप्रकाश से ही तद्विषयक विवेचन को संकलित कर कर दिया है। हां अभिधावृत्तमातृका के कुछ उदाहरणों की समीक्षा अवश्य नवीन हैं; किन्तु केवल इस आधार पर ही उसे स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में स्वीकार कर सकना उचित न होगा। एतद्विषयक तृतीय ग्रन्थ अप्पयदीक्षितकृत वृत्तिवार्त्तिक है। इस ग्रन्थ

१. अत एव निपातानां द्योतकत्वं स्फोटस्य व्यंग्यता च ह्यर्थादिभिस्तुता ।

वैयाकरणानामप्येतत्स्वीकार आवश्यकः । वै. सि. मञ्जूषा

के प्रारम्भ में दीक्षित ने यद्यपि अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना तीनों शक्तियों के विवेचन की प्रतिज्ञा की है,^१ किन्तु यह संयोग की ही बात है कि यह ग्रन्थ अबतक लक्षणा विवेचन पर्यन्त ही उपलब्ध हो सका है। इसके अतिरिक्त चन्द्रकान्त विद्यालंकार कृत शब्दमञ्जरी भी इस विषय का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो हमें अबतक उपलब्ध न हो सका है।^२

आशाधर प्रथम आचार्य है जिन्होंने अभिधा लक्षणा एवं व्यञ्जना व्यापार के विवेचन के लिए कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका दो ग्रन्थ लिखे हैं और दोनों ही समग्र रूप से उपलब्ध हैं। इतना ही नहीं, इन दोनों ग्रन्थों की सबसे मुख्य विशेषता यह है, जो इन्हें अत्यन्त उपादेय सिद्ध करती है, कि ये जितने विद्वतापूर्ण हैं, उतने ही सुगम भी हैं। इसमें उन सभी समस्याओं पर सुगम शैली में विचार किया गया है, जो शब्दशक्ति के अध्येताओं के समक्ष उपस्थित होती हैं। साथ ही इसके अध्ययन के समय गम्भीर चिन्तन में निरत विद्वानों को भी निराश नहीं होना पड़ता। इन ग्रन्थों में इन्होंने यथास्थान न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र निरुक्त व्याकरण एवं साहित्यशास्त्र आदि के आचार्यों को उद्धृत करते हुए^३ सिद्धान्तपक्ष का समर्थन किया है। सिद्धान्त पक्ष का समर्थन करने के लिए उन्होंने महाभाष्यकार पतञ्जलि, वार्त्तिकार कात्यायन, काव्यप्रकाशकार मम्मट एवं अन्य आचार्यों को भी उद्धृत किया है। दोनों ग्रन्थों को आशाधर भट्ट ने अभिधा लक्षणा एवं व्यञ्जना प्रकरणों में विभाजित किया है, तथा त्रिवेणिका में नैपथीयचरितम् एवं किरातार्जुनीम् जैसे महत्वपूर्ण महाकाव्यों को भी उद्धृत किया है। इन्होंने अपने एतद्विषयक दोनों ही ग्रन्थों में विवेच्य विषय को स्पष्ट करने का ही प्रयत्न किया है, पाण्डित्य प्रदर्शन का प्रयास कहीं प्रगट भी नहीं होता।

१. वृत्तयः काव्यसरणावलंकारप्रबन्धभिः ।

अभिधा लक्षणाः व्यक्तिरिति तिस्रो निरूपिताः ॥

तत्र क्वचित्क्वचिद् वृद्धे विशेषानस्फुटीकृतान् ।

निष्कंयितुमस्माभिः क्रियते वृत्तिवार्त्तिकम् ॥ वृत्तिवार्त्तिक पृ० १

२. यह ग्रन्थ आसामी लिपि में ६५ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था।

३. देखिये परिशिष्ट १

आशाधर भट्ट—

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में हमें आशाधरभट्ट नाम के दो विद्वानों की सूचना मिलती है। इनमें से प्रथम की चर्चा पिटर्सन ने १८८३ में की थी एवं दूसरे का उल्लेख बूह्लर ने १८७१ ई० में किया। नाम साम्य के कारण ही डा० एस० के० डे ने दोनों को अभिन्न मानने का प्रयास किया है।^१ जबकि आफ्रेट ने उन्हें परस्पर भिन्न स्वीकार करना उचित माना है।^२ यद्यपि नामसाम्य के अतिरिक्त अभिन्न मानने के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं। बल्कि उपलब्ध सामग्री दोनों के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को सूचित करती है।^३ आफ्रेट के अनुसार प्रथम आशाधर व्याघ्रेरवाल वंश के जैन लेखक रहे हैं। इनके पिता का नाम सल्लक्षण एवं पुत्र का नाम छाहड़ था। इन्होंने त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र में उसका रचना काल १२३६ ई० स्वयं निर्दिष्ट किया है। अतः उनका स्थिति काल तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध सुनिश्चित है। जबकि कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका के रचयिता आशाधरभट्ट मल्लिनाथ एवं सिद्धान्तकौमुदी का उल्लेख करते हैं, सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित का समय सोलहवीं शती का उत्तरार्ध सुनिश्चित है, अतः द्वितीय आशाधरभट्ट का समय सोलहवीं शती के बाद ही हो सकता है। इस प्रकार दोनों आशाधरभट्ट को एक मानना कथमपि उचित न होगा।

इनमें से प्रथम आशाधररचित त्रिषष्टिस्मृतिचन्द्रिकाशास्त्र अष्टाङ्ग-हृदयोद्योत, काव्यालंकार टीका एवं ग्रहगणित की सूचना मिलती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक आशाधर भट्ट द्वितीय हैं। वे कौन थे इनका जन्म कत्र और कहां हुआ था, इत्यादि के प्रसङ्ग में प्रमाणों के अभाव में कुछ भी प्रामाणिकरूप से कह सकना कठिन है। अलंकारदीपिका के मङ्गलाचरण पद्यों से हमें केवल इतनी ही सूचना मिल पाती है कि इनके पिता भट्टरामजी तथा इनके गुरु श्रीधरणीधर रहे हैं।^४ क्योंकि संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में धरणी धर

१—Hindu poetries vol. I. P. 99

२—Catalogurs Catalogorum I P. 54।

३—(क) पीटर्सन रिपोर्ट भाग २ पृ० ८५,

(ख) आफ्रेट कैटलागर्स कैटलागरम् भाग १,

(ग) एस० के० डे० हिन्दुपौयटिक्स भाग १ पृ० ६६

४—शिवयोस्तनयं नत्वा गुरुं च धरणीधरम्।

आशाधरेण कविना रामजीभट्टसूनुना ॥ अलंकार दीपिका पृ० १

एवं रामजी भट्ट का कोई विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है, अतः इस संकेत से भी इनके स्थिति काल के निर्णय करने में कोई सहायता नहीं मिल पाती। इन्होंने अपने पिता रामजीभट्ट के नाम के साथ विशेषण के रूप में पदवाक्यप्रमाण-पारावारीण पद का तथा स्वयं के लिए कवि विशेषण का प्रयोग किया है।^१ इससे कथमपि यह अनुमान किया जा सकता है कि उन्होंने व्याकरण न्याय एवं मीमांसा का अध्ययन अपने पिता से तथा काव्यशास्त्र का अध्ययन गुरुवरणीधर से किया होगा। संभवतः ये गुजरात के रहे होंगे, क्योंकि इनके ग्रन्थ प्रायः उधर ही दृष्टिगत हुए हैं।

आशाधरभट्ट ने जिन ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं, वे प्रायः सुप्रसिद्ध एवं प्राचीन हैं, अतः उनके आधार पर उनकी तिथि का निधारण करना सम्भव नहीं है। आफ्रेट के अनुसार इनका उल्लेख जनार्दन पंडित ने किया है, किन्तु वे स्वयं ऐतिहासिकों में अविदित हैं, अतः उनके उद्धरण से इनके स्थितिकाल के निर्णय में कोई सहायता नहीं मिल पाती, अतः हमें इसके लिए अन्तः साक्ष्य पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इनकी रचनाओं में एक रचना अप्पयदीक्षितकृत कुवलयानन्द पर टीका अलंकार दीपिका है। अप्पय दीक्षित (कुवलयानन्दकार) का समय प्रायः निश्चित है। वे सोलवी शताब्दी के उत्तरार्ध एवं सत्रहवीं के प्रथम भाग में रहे हैं, यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है। आशाधरभट्ट ने सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित को उद्धृत किया है। भट्टोजिदीक्षित भी निर्विवाद रूप से सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में रहे हैं। आशाधर भट्ट ने 'अत्र वैयाकरणाः—शक्तिरेव शब्दवृत्तिः तस्याश्च प्रसिद्धचप्रसिद्धिभ्यां शक्ति-लक्षणा व्यपदेशः" [त्रिवेणिका पृ० २८] इत्यादि शब्दों में आलोचनार्थ वैयाकरण मत को उद्धृत किया है। वैयाकरणों में कौण्डभट्टकृत वैयाकरण भूषणसार में शक्ति की उपर्युक्त परिभाषा प्राप्त होती है। इस आधार पर यदि यह कहा जाए कि वे कौण्डभट्ट से परिचित रहे हैं, तो अनुचित न होगा। इस परिभाषा को कौण्डभट्ट ने वाक्यपदीय एवं शब्दकौस्तुभ से ग्रहण किया है। कौण्डभट्ट भट्टोजिदीक्षित के भतीजे थे। अतः इनका समय भट्टोजिदीक्षित से अव्यवहित उत्तरवर्ती अर्थात् सत्रहवीं शती का मध्यभाग स्वीकार करना उचित होगा। इसके फलस्वरूप आशाधर भट्ट को भी सत्रहवीं शती के मध्यभाग से पूर्व नहीं रखा जा सकता है।

१—इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारावारीण रामजीभट्टात्मज-आशाधरभट्टविरचितायां त्रिवेणिकायाम्.....। प्रकरणों की पुष्पिका । पृ० ११, २४, २६।

आशाधरभट्ट की उत्तरवर्ती सीमा के सम्बन्ध में हमें उनके ग्रन्थों के प्रतिलिपि कारों से कुछ सूचना मिलती है। वेल्वेल्कर एवं के० पी० त्रिवेदी के अनुसार कोविदानन्द की एक प्रति में शक संवत् १७८३ (अर्थात् १८६१ ई०) में उस प्रतिलिपि के तैयार किए जाने का संकेत मिलता है।^१ भाण्डारकर द्वारा प्रस्तुत पाण्डुलिपि सूची के अनुसार उन्हें शक संवत् १७७५ (१८५३ ई०) में प्रतिलिपि की गयी आशाधर-भट्टकृत अलंकार दीपिका (कुवलयानन्दटीका) की एक प्रति उपलब्ध हुई है।^२ इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग तक आशाधर भट्ट की पर्याप्त प्रतिष्ठा हो चुकी थी। किसी ग्रन्थकार की प्रसिद्धि के लिए कम से कम एक शताब्दी का समय आवश्यक है, इस आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि आशाधर भट्ट की उत्तर सीमा अठारहवीं शताब्दी के मध्यभाग के बाद रखना उचित न होगा।

यह चर्चा पहले (पृ० ७ में) की जा चुकी है नागेश प्रथम, वैयाकरण हैं, जिन्होंने व्यञ्जना को स्वतन्त्र शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। उनसे पूर्ववर्ती आचार्य इसे गुणवृत्ति, दूसरे शब्दों में अभिधा के दीर्घव्यापार, में ही समाहित मानते रहे हैं, नागेश की यह भी मान्यता रही है कि इस शक्ति को भर्तृहरि द्वारा स्वीकृति स्फोट के अन्तर्गत व्याख्यात किया जा सकता है, अतः व्यञ्जना की स्वीकृति प्राचीन आचार्यों की मान्यता के विरुद्ध भी नहीं है। आशाधरभट्ट के ग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि व्यञ्जना शक्ति को भी स्वीकार करने वाले किसी वैयाकरण का पता उन्हें न था। तभी वे कहते हैं कि वैयाकरणों के अनुसार शब्द का व्यापार केवल शक्ति अर्थात् अभिधा है। शक्ति के प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि भेद से दो प्रकार हैं, प्रसिद्धि को ही शक्ति एवं अप्रसिद्धि को लक्षणा कहते हैं, व्यञ्जना का अन्तर्भाव भी दीर्घव्यापार के के कारण उसमें ही हो जाता है।^३ आशाधर भट्ट के इस उद्धरण से यह सुनिश्चित

१. (क) Systems of skt. Grammer P. 48,

(ख) Introduction to वैयाकरण भूषण सार P. 20।

२. Bhandarkar's list of skt. Mss. Part I Bombay, 1893, P. 68।

३. अत्र वैयाकरणाः—शक्तिरेव शब्दवृत्तिः, तस्याश्च प्रसिद्ध्यप्रसिद्धिभ्यां शक्तिलक्षणा व्यापदेशः। व्यञ्जना तु तत्रैवान्तर्भवति दीर्घव्यापारादिति। त्रिवेणिका पृ० २७, २८।

हो जाता है कि वे व्यञ्जना को शब्दशक्ति स्वीकार करने वाले वैयाकरण नागेश से सर्वथा अपरिचित थे ।

नागेश का समय सत्रहवीं शती का अन्तिम एवं अठारहवीं शती का प्रथम भाग माना जाता है ।^१ उन्हें एवं उनकी रचनाओं को उनके जीवनकाल में ही पूर्ण समादर प्राप्त हो चुका था । उनके कारण राजदरबारों में उन्हें सम्मानित किया गया था । इतिहासकारों के अनुसार जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह ने १७१४ में अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर उन्हें आमन्त्रित किया था, जिसे नागेश ने अस्वीकार कर दिया था । इसे देखते हुए यह स्वीकार करना सम्भव नहीं है कि आशाधर भट्ट उनसे परवर्ती अथवा समकालीन होते हुए उनसे अपरिचित रहते । अथवा अपने इस लघु ग्रन्थ में पैतालिस वार से अधिक लगभग तीस ग्रन्थकारों का उल्लेख करके भी नागेश का उल्लेख न करते । अतः यह मानना ही उचित होगा कि वे नागेश भट्ट से पूर्व कालीन रहे हैं; अथवा यदि समकालीन भी थे तो अपेक्षाकृत पूर्व रहे हैं । इन समग्र तथ्यों से आचार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि आशाधर भट्ट सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रहे हैं ।

आशाधर भट्ट की कृतियां

कोविदानन्द

कोविदानन्द शब्दशक्ति विषयक महत्त्व पूर्ण लघु ग्रन्थ है । इसमें ग्रन्थकार ने प्राचीन आचार्यों की मान्यता के अनुसार लक्षण और उदाहरणों के साथ शब्दव्यापार विषय पर विचार किया है । यह ग्रन्थ मूलतः कारिकाओं में है । ग्रन्थकार ने स्वयं इस पर कादम्बिनी नामक संस्कृत टीका भी लिखी है । आशाधरभट्ट की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इसीलिए उन्होंने न केवल त्रिवेणिका में अनेक बार इसका उल्लेख किया है, अपितु त्रिवेणिका के मंगल श्लोक में स्वयं को गौरव के साथ कोविदानन्द का रचयिता भी कहा है । इस ग्रन्थ का प्रथम बार मुद्रण उज्जैन से एवं दूसरी-बार सरस्वती सुपमा में संवत् २०१६ वि० में हुआ है । इसके अतिरिक्त यह ग्रन्थ इस संस्करण के साथ वृत्तिसमुच्चय में भी लेखक द्वारा व्याख्यात होकर प्रस्तुत हुआ है ।

त्रिवेणिका

त्रिवेणिका आशाधरभट्टकृत शब्दशक्ति विषयक द्वितीय ग्रन्थ है। जैसी कि ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा है एवं त्रिवेणिका नाम करण का कारण भी, इसमें अभिधा लक्षणा एवं व्यञ्जना इन तीनों शब्द शक्तियों का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत हुआ है।^१ जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि आशाधर भट्ट के ये दो ऐसे स्वतन्त्र पूर्ण ग्रन्थ हैं जिनमें अभिधा लक्षणा एवं व्यञ्जना तीनों शक्तियों का प्रामाणिक सोदाहरण विवेचन किया गया है। इसका प्रथम बार प्रकाशन प्रिंस आफ वेल्स संस्कृत सीरीज़ १४ में बनारस से सन् १९२५ ई० में हो चुका है।

अलङ्कार दीपिका

आशाधर भट्ट की तृतीय कृति अलङ्कारदीपिका है। यह कृति स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर अप्पयदीक्षितकृत कुवलयानन्द की टीका है। इसमें केवल कारिकाओं की व्याख्या की गयी है, कुवलयानन्द की वृत्ति एवं वृत्ति में दिये गये उदाहरणों का विश्लेषण इस टीका में नहीं हुआ है। कुवलयानन्द पर यह सुविदित टीका है, और अनेक बार इसका मुद्रण हो चुका है। जर्मन में इसका अनुवाद भी वर्लिन से १९०७ में प्रकाशित हो चुका है, ऐसा पता चलता है।

अद्वैत विवेक

जैसा कि नाम से ही विदित होता है, यह ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त का होना चाहिए। यह ग्रन्थ अब तक मुद्रित न हो सका है। कुन्हन राजा द्वारा सम्पादित न्यू कैटलागर्स कैटलागरम के अनुसार इस ग्रन्थ की पाँच पाण्डुलिपियों की सूचना मिलती है जो निम्नलिखित हैं:—

१. बड़ोदा ११८०६, नासिक II 197
२. BBRAS 143 बम्बई 1879-82 P.5
३. BORI 264 1879-80
४. BORI D IX. i 19. D. P. 148 P. 12

प्रभाषटल

आशाधर भट्ट ने त्रिवेणिका में प्रभाषटल से निम्नलिखित दो पद्यों को उद्धृत किया है:—

१. शक्तिभक्ति व्यक्ति गंगायमुना गूढ़ निर्भराः ।
निह्वन्त्यः सन्त्यत्र स्यात्तद्देशा त्रिवेणिका । त्रिवेणिका पृ० १ ।
२. त्रिवेणिका पृ० २८

यदिह लिखतामव्युत्पत्त्या पतेल्लघु दूषणम्

निपुणधिषणैरुज्जिभत्वा तत्कृतिर्मम सेव्यताम् ।

सरसविमले वातक्षिप्तं निवार्य तु शैवलम्,

सलिलममृतप्रायं प्रायः पिबन्ति पिपासवः ॥

यदि मम सरस्वत्यां कश्चित्कथंचन दूषणम्,

प्रलपति, ततः प्रौढप्रज्ञैः स किं कविभिः समः ।

रघुपतिकुटुम्बिन्यां

सत्यामवद्यमुदाहरन्

हतक रजकः साम्यं लेभे स किं सह राजभिः ॥^१

इन दोनों पद्यों के उद्धरण के अनन्तर आशाधरभट्ट ने स्वयं स्वीकार किया है कि जिस प्रकार कालिदास ने रघुवंश गत कुछ पद्यों अथवा पद्यांशों को अपनी दूसरी कृति कुमार सम्भव में निबद्ध कर दिया है, मैं भी उसी भाँति प्रभापटल के उपर्युक्त हारिणी छन्द में निबद्ध दो पद्यों को त्रिवेणिका के अन्त में निबद्ध कर रहा हूँ ।^२ इस आधार पर यह स्वीकार करना अनुचित न होगा कि यह ग्रन्थ भी आशाधर भट्ट की अन्यतम कृति है । इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में हमें अब तक कोई विशेष जानकारी न मिल सकी है, किन्तु वटुकनाथ शास्त्री के अनुसार यह ग्रन्थ सम्भवतः तन्त्र का होना चाहिए ।^३

१. त्रिवेणिका पृ० २६ ।

२. प्रभापटले निबद्धमिदं हारिणीद्वयं तापापनोदाय त्रिवेणिकाप्रान्ते विन्यस्तम् । यथा रघुवंशस्था श्लोका स्वकृतत्वात्कुमारसम्भवे विन्यस्ताः । त्रिवेणिका पृ० २६ ।

३. Introduction on Trivenika P. 11.

कोविदानन्दः

(कादम्बिनी-दीपिका-संवलितः)



आशाधरभट्ट विरचितः कोविदानन्दः

अभिधावृत्तिनिरूपणम्

त्रिनयनलसत्पञ्चास्यश्रीः षडानननन्दनः ।
सततमहिमा सप्तर्ष्याद्यैः कृतस्तुतितोषितः ॥
जयति जगतां व्याकुर्वाणोऽजयाकृतिनामनी ।
पुनरपिदधत् कण्ठेकालः स कालकलोज्झितः ॥१॥

श्रीगणेशाय नमः । श्रीहरिकृष्णाय नमः ।

प्रणम्य शङ्करं साम्बं कोविदानन्दनामकम् ।

ग्रन्थं व्याख्यामि सङ्क्षेपात् स्वकृतं बोधसिद्धये ॥

अथाभिधानिरूपणम्

अथात्र शब्दव्यापारसंशयनिवृत्तिकामैः शिष्यैः प्रेरित आशाधरभट्टनामा कविः सङ्क्षिप्तं युक्तियुक्तं कोविदानन्दाख्यं ग्रन्थं कुर्वन् शिवोत्कर्षरूपं मङ्गलमाचरति—त्रिनयनेति । त्रिभिस्त्रिभिर्नयनैर्लसन् त्रिनयनलसत्, 'तद्वित०' [२-१५१] इत्यादिना द्विगुर्भस्तत्पुरुषः । त्रिशब्दस्य वृत्तिवषये वीप्सार्थत्वं । अजया = मायया जगतामाकृतिनामनी व्याकुर्वाणः प्रकटीकुर्वाणः, पुनश्च अपिदधत् संहर्नन्नित्यर्थः । कण्ठेकाल = शिवः 'हलदन्तात् सप्तम्याः सज्ञायाम्' [६-३-१] इत्यलुक् । जयति = सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति वस्तुनिर्देशात्मकं मङ्गलमेतत् । त प्रणतोऽस्मि, स मे प्रसीदत्विति नमस्काराशीर्वादावपि व्यज्येते । शेषमुगमम् ॥१॥

पञ्चानन की शोभा से युक्त षडानन कार्तिकेय को आनन्दित करने वाले सप्तर्षि आदि के द्वारा जिनकी स्तुति की जा रही है, वे निरन्तर माहिमाशाली तीन नयनों से युक्त भगवान् शंकर, जो अपनी अज अर्थात् अनादि माया से विश्व के नाम और रूप को प्रकट करते हैं एवं पुनः उसे समाहित कर लेते हैं, वे कालबन्धनमुक्त नीलकण्ठ सर्वजयी हों ॥१॥

नोट:—प्रस्तुत दो पद्यों में ग्रन्थकार ने त्रिनयन शब्द द्वारा शब्द में विद्यमान अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना नामक तीन शक्तियों की ओर संकेत किया है। साथ ही अजया शब्द द्वारा शब्द की नित्यता, 'आकृति नाम्नी व्याकुर्वाणः' द्वारा शब्द ब्रह्म से ही नाम रूपात्मक जगत् की उत्पत्ति एवं 'पुनः अपिदधत्' द्वारा शब्द ब्रह्म में ही उस नाम रूपात्मक जगत् का तिरोधान होता है, ऐसा संकेत किया है।

प्राचां वाचां विचारेण शब्दव्यापारनिर्णयम् ।

करोमि कोविदानन्दं लक्ष्यलक्षणलक्षितम् ॥२॥

प्राचामिति । प्राचाम् = वृत्तिवार्तिककारादीनाम् । लक्ष्यलक्षणलक्षितम्, लक्ष्याणि = उदाहरणानि, लक्षणानि = स्वरूपकथनानि, तैर्लक्षितं संयुक्त-मित्यर्थः ॥२॥

मैं आशाधरभट्ट वृत्तिवार्तिककार अप्पयदीक्षित आदि आचार्यों के शब्दव्यापारविषयक विचारों को हृदयंगम करते हुए लक्ष्य और लक्षण से युक्त इस कोविदानन्द ग्रंथ का निर्माण कर रहा हूँ ॥२॥

प्रमाणत्वेन शब्दानां करणत्वं शरादिवत् ।

तेन व्यापारयुक्तत्वं नियतं स्वार्थसाधने ॥३॥

प्रमाणत्वेनेति । शब्दानां प्रमाणत्वेन चक्षुरादिवद् ज्ञानसाधनत्वेन, यथार्थज्ञानं प्रमा तस्याः करणं प्रमाणमिति लक्षणात् । करणत्वं व्यापारवद-साधारणकारणत्वम् । अस्तीति शेषः । तेन स्वार्थसाधने भिदादिषु शरादीना-मिव व्यापारयुक्तत्वं नियतमेव । अन्यथा शब्दबोधासंभव इति भावः । द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यपारसाधारणञ्च हेतुत्वम् । करणत्वं तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च ॥३॥

जिस प्रकार ज्ञान के साधनभूत चक्षु आदि प्रमा के साधन भूत होने से प्रमाण हैं, उसी प्रकार शब्द भी प्रमा के साधन होने से प्रमाण हैं। ये शब्द प्रमाण होने से प्रमा के करण हैं। जिस प्रकार बाण आदि, जो शत्रुनाश क्रिया के प्रति करण होते हैं, सदा व्यापार युक्त होते हैं [व्यापारवद् असाधारणं कारणं करणम् । तर्क संग्रह] उसी प्रकार शब्द भी निज अर्थ को प्रकट करने के कारण अवश्य ही व्यापार युक्त हैं, यह मानना होगा ॥३॥

शास्त्रादेर्ज्ञातसंकेता लक्ष्यलक्षाः शरा इव ।

सद्योऽर्थकारिणः शब्दास्तेन तस्यापि हेतुता ॥४॥

शास्त्रादेरिति । लक्ष्यं लक्षयन्तीति लक्ष्यलक्षाः सम्मुखीना इत्यर्थः । सद्योऽर्थकारिणो बोधनकारिणो भेदनकारिणश्च । तेन तस्यापि संकेतज्ञान-स्यापि शाब्दबोधे शरसम्मुखीकरणस्य लक्ष्यभेद इव हेतुताऽस्ति । अपिशब्दाद् व्यापारस्य ॥४॥

जिस प्रकार बाण अपने लक्ष्य पर ही गिरते हैं इसी प्रकार शास्त्र आदि से संकेतों से युक्त होकर शब्द भी तत्काल अर्थ का बोध कराते हैं । अतः शाब्द बोध के प्रति शब्दों को हेतु स्वीकार किया जाता है ॥४॥

व्यापारादतिरिक्तोऽयं संकेतो वाच्यगोचरः ।

योग्यताजनको वाणे लक्ष्यसम्मुखता यथा ॥५॥

व्यापारादिति । वाच्यगोचरः शक्यार्थविषयः शब्दनिष्ठ इति शेषः । अतिरिक्तो भिन्न एवाभेदे मानाभावादिति भावः योग्यताजनकः सहकारि-कारणमित्यर्थः ॥५॥

जिस प्रकार लक्ष्यों का सम्मुख होना बाणों में संकेत की योग्यता उत्पन्न करता है, अर्थात् लक्ष्य बाणों के सम्मुख होने पर ही बाणों द्वारा भेदन के योग्य होते हैं, और वह योग्यता व्यापार से भिन्न होती है, उसी प्रकार वाच्य अर्थों में विद्यमान संकेत वाचक शब्दों द्वारा वाच्य अर्थ के बोधन की योग्यता उत्पन्न करता है, शब्द में विद्यमान ये संकेत शब्द में विद्यमान व्यापार से भिन्न है ॥५॥

ज्ञातस्यैवोपयोगित्वमर्थे तस्यान्यथा तु न ।

लक्ष्येऽवधारितस्यैव सम्मुखत्वस्य भेदने ॥६॥

ज्ञातस्यैवेति । अर्थे = अर्थबोधनेऽवधारितस्य निश्चितस्य बाणनिष्ठ-स्येति शेषः । लक्ष्ये लक्ष्यविषये ॥६॥

जिस प्रकार सम्मुख में स्थित लक्ष्यों के भेदन में ही बाण समर्थ होते हैं, उसी प्रकार ज्ञात शब्द और अर्थ ही अर्थ बोधन में समर्थ होते हैं, अज्ञात नहीं ॥६॥

संकेतमेव शब्दस्य व्यापारं तार्किका विदुः ।

अज्ञातस्योपयोगित्वं^१ न कथं बाणवेगवत् ॥७॥

संकेतमेवेति । ईश्वरेच्छाविशेषः संकेतः, स एव शब्दव्यापार इति तार्किकाः । तन्मते दूषणमाह—व्यापारस्य ज्ञातस्थैवोपयोगित्वमिति नियमो नास्ति, प्रत्यक्षेणोपलम्भादिति भावः ॥७॥

नैयायिक लोग शब्द में विद्यमान ईश्वरेच्छाविशेष संकेत को ही शब्द व्यापार मानते हैं । किन्तु यह उचित नहीं है । क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि ज्ञात पदार्थ का ही उपयोग होता है, अज्ञात का नहीं । ज्ञात बाण वेग ही लक्ष्य का भेदन करता है, अज्ञात नहीं । इसी प्रकार ईश्वर की इच्छाविशेष, ईश्वर भिन्न द्वारा अज्ञात है, अतः अर्थ बोध में उसका उपयोग नहीं हो सकता । [शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः । सा चास्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपा । न्याय सिद्धान्त मुक्तावली० पृ० २१०] ॥७॥

एकेनानेकसाध्योऽर्थो लाघवाद्यदि साध्यते ।

स्त्रीपुंसयोरन्यतरत्वाद्यवाच्छिशुकृत् किम् ॥८॥

संकेतव्यापारयोरभेदाङ्गीकारे लाघवम्, तच्च गुण इत्याशङ्क्य सफलं गौरवमपि गुण एव, ततः स्वीकर्तव्यमित्याह—एकेनेति । अन्यतरदेकं शिशुकृत् शिशुजनकं किं न स्यात् ? तोक न जनयेत् । कथमिति पाठः साधीयान्, यतो विवाहादिगौरवपरिहारादिति भावः । ८॥

नैयायिकों की ओर से यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि संकेत और व्यापार इन दोनों को अभिन्न क्यों न माना जाए । अथवा इन दोनों में एक को ही अर्थ बोध का हेतु क्यों न स्वीकार किया जाए, ऐसा मानने पर लाघव होगा और लाघव महात् गुण है । इस आशंका के उत्तर में ग्रंथकार का कहना है कि दो वस्तुओं द्वारा साध्य पदार्थ की उत्पत्ति एक के द्वारा संभव नहीं है । अन्यथा स्त्री और पुरुष द्वारा मिलकर उत्पाद्य शिशु की उत्पत्ति भी अन्यतर से स्वीकार करने में आपत्ति न होनी चाहिए । क्योंकि उस स्थिति में विवाह आदि गौरव की अनायास निवृत्ति हो सकती है । तात्पर्य यह है कि जिस

प्रकार स्त्री और पुरुष द्वारा मिलकर शिशु की उत्पत्ति होती है, वह केवल एक के द्वारा नहीं हो सकती; उसी प्रकार संकेत और व्यापार दो की सहायता से होने वाला अर्थबोध केवल एक के द्वारा नहीं हो सकता ॥८॥

अयमर्थ इतश्शब्दाद्वेद्य इच्छेदशी तु या ।

प्रवर्तकोपदिष्टा सा संकेत इति भण्यते ॥९॥

संकेतलक्षणमाह—अयमिति । प्रवर्तकोपदिष्टेति प्रवर्तकग्रहणादाधुनिकेषु नाव्याप्तः । उपदिष्टा इच्छा संकेतः, अथवा इच्छापूर्वक उपदेशः संकेत इति पक्षद्वयं सिद्धयति ॥९॥

‘इस शब्द के द्वारा इस अर्थ का बोध होता है’ प्रवर्तक द्वारा उपदिष्ट इस प्रकार की इच्छा को संकेत कहते हैं ॥९॥

स ईश्वरकृतः साधौ शब्दे शास्त्रं तु शास्त्रितम् ।

असाधौ व्यवहारादेः संवेद्यः स सुधीकृतः ॥१०॥

संकेतद्वैविध्यमाह—स इति । साधौ=संस्कृते शब्दे ईश्वरकृतः, असाधौ=प्राकृते सुधीकृतः, आधुनिकविद्वत्कृत इत्यर्थः ॥१०॥

यह संकेत दो प्रकार का है ईश्वरकृत और सुधीकृत । साधु शब्दों [यौगिक शब्दों] में ईश्वरकृत संकेत रहता है । शास्त्र द्वारा उसका बोध कराया जाता है । असाधु अर्थात् रूढ़ि शब्दों में सुधीकृत [उत्तम वृद्ध अर्थात् विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट] संकेत रहता है तथा व्यवहार आदि द्वारा उसका बोध होता है ॥१०॥

लाघवादेकमात्रेण बोधोऽर्थस्य मतस्तु यैः ।

तन्मते दोष एव स्यात्लाघवं विफलं यतः ॥११॥

लाघवादिति । एकमात्रेण संकेतमात्रेण विफलमर्थासाधकमित्यर्थः ॥११॥

नैयायिक परम्परा आदि के आचार्य जो लाघव के कारण संकेत और व्यापार को अभिन्न मानते हैं और केवल एक के द्वारा ही अर्थबोध स्वीकार करते हैं, उनका मत दोष रहित नहीं है । क्योंकि व्यापार के बिना संकेत अर्थ बोधन में सफल नहीं हो सकता । फलतः इस प्रसंग में लाघव निरर्थक है ॥११॥

संकेतग्रहणौ हेतून् शृणुदाहरणैः सह ।

प्रायो व्याकरणं कोशो निरुक्तं मुनिवागपि ॥१२॥

व्याख्यानं वाक्यशेषश्च प्रसिद्धार्थस्य सन्निधिः ।

उपमानप्रमाणं च व्यवहारश्च तद्विदाम् ॥१३॥

ज्ञातस्यैव संकेतस्योपयोग इत्युक्तं तत्रोपायानाह—संकेतेति । संकेत-ग्रहणौ संकेतज्ञाने, प्राय इत्यनेन मुख्यत्वं सूचितम् । निरुक्तं यास्काचार्यकृतं शास्त्रम्, मुनिवाक्—व्यासादिवचनम्, गोबलीवर्द्धन्यायेन पृथङ् निर्देशः ॥१२॥

व्याख्यानमिति । व्याख्यानम्=पर्यायादि, वाक्यशेषः=पौर्वापर्यम्, यदाहुः—‘पौर्वापर्यपरामृष्टः शब्दोज्यां कुरुते मतिम्’ इति ॥१३॥

अग्रिम प्रकरण में संकेत ग्रहण के जो हेतु हैं उनका उदाहरण सहित विवेचन किया जा रहा है । सामान्यतः व्याकरण, कोष, निरुक्त [निर्वचन] आप्त-उपदेश, व्याख्यान अर्थात् पर्याय आदि का निर्देश, वाक्यशेष अर्थात् प्रकरणबोध, प्रसिद्ध अर्थ के साथ सन्निधि, उपमान-प्रमाण और व्यवहार संकेत ग्रहण के हेतु होते हैं ॥१२-१३॥

अमिश्रिता मिश्रिताश्च संकेतग्रहहेतवः ।

दर्शिताः साधुशब्दानामसाधूनां च केचन ॥१४॥

अमिश्रिता^१ इति । असाधूनां प्राकृतादीनां केचन व्यवहारादयः ॥१४॥

उपर्युक्त संकेतग्रह के हेतु कभी अमिश्रित रूप से अर्थात् पृथक् पृथक् और कभी मिश्रित रूप से संकेत का ग्रहण कराते हैं । अग्रिम पंक्तियों में कुछ साधु अर्थात् यौगिक और कुछ असाधु अर्थात् रुढ़ि शब्दों में संकेतग्रहण के उदाहरण उपस्थित किए जा रहे हैं ॥१४॥

पार्वत्यम्बा तथा चोमा तथा दिक्करवासिनी ।

साम्बः सोमो भवो मुञ्जकेशः शूली यथाक्रमम् ॥१५॥

१. अमिश्रितेति पाठो मातृकायाम् ।

एषामुदाहरणान्याह—पार्वतीति । पार्वतीशब्देऽपत्यार्थप्रत्ययविधायकं व्याकरणम् । अम्बाशब्दस्य रुद्धत्वात् कोशः । उमाशब्दे उशब्दस्य सम्बोधनार्थकस्य माशब्दस्य निषेधार्थस्य च संयोगे व्युत्पत्त्यभावेऽपि 'अक्षरसाम्यान्निर्वचनं ब्रूयात्' इति निरुक्तवचनम् । तथा च कुमारसम्भवे—

‘उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम’ [१,२६]

मेनकावाक्यगतोकारमकाराणां^१मक्षराणां देवीनामगतानां तेषामभिन्नरूपत्वादक्षरसाम्यहेतुकोऽयं संकेतः । तद्बोधकञ्च निरुक्तवचनम् । एवम्—

स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भवलेदौ तदाख्यया ।

कार्वः कुशलवावेव चकार किल नामतः ॥

इत्यादिष्वपि स्वयमूहम् ।

दिक्करवासिनीति । अत्र शम्भुवाचकदिक्करशब्दः कोशादिष्वदृष्टचर इति ।

दिक्करस्तरुणः प्रोक्तस्तथा शम्भुश्च दिक्करः ।

तस्मिन् यदूषिता देवी तस्माद् दिक्करवासिनी ॥ [अ० ८२]

इति कालिकापुराणे मुनिवाग् व्यासवचनम् । एवं विखरशब्दस्य बुद्धिवाचकत्वे श्मशानशब्दस्य सुपुम्णावाचकत्वे च मुनिवाक् संकेतग्राहकेति बोध्यम् । अन्यान्युदाहरणानि स्वयमूहानि ।

अम्बया सहितः शिवः कृष्णपुत्रो वा व्याख्यानान्निश्चीयते । सोमशब्दस्य सोमयाजी ब्राह्मणोऽयमित्यादौ भक्तिमार्गपौर्वापर्ये सोमशब्दः शिववाचकः, कर्ममार्गपौर्वापर्ये तु यज्ञविशेषवाचक इति । ‘भवो भवतु भव्याय’ [मु० म० १] इत्यादौ ‘भवः शर्वो रुद्रः’ इत्यादौ च भवशब्दः शब्दान्तरसाम्येच्छावाचको न तु संसारवाचक इति । मुञ्जकेश इति । मुञ्जा इव केना यस्येति व्युत्पत्त्योपमानप्रमाणेन पिशङ्गकेशत्वेन जटाधरत्वं निश्चीयते ।

शूलीति । अन्येषां शूलधरत्वेऽपि शूलशब्देन शिव एव व्यवह्रियते । तेन शूली सेव्य इत्यत्र वृक्षविशेषः शूलरोगी शूलायुधपुरुषो वा न प्रतीयते ॥१५॥

पार्वती पद्य में उमा अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति का बोध व्याकरण से होता है, क्योंकि व्याकरण के अनुसार यह पद पर्वत शब्द से अपत्य अर्थ में अण् एवं स्त्री अर्थ में 'डीप्' प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। 'अम्बा' शब्द में संकेत ग्रहण कोष के द्वारा होता है, क्योंकि यह पार्वती अर्थ में रुढ़ि है। इसका बोध कोषकार कराते हैं। उमा शब्द में संकेत का ग्रहण निरुक्त अर्थात् निर्वचन से होता है। क्योंकि निर्वचन के अनुसार 'उ' शब्द संबोधनार्थक है, और 'म' शब्द निषेधात्मक। क्योंकि मेनका ने संबोधन पूर्वक उसे तप करने से मना किया था, अतः उमा उसका नाम पड़ा, जैसा कि कालिदास के वचन में विदित होता है। 'उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम' [कुमार सम्भव—१, १७,] निरुक्तकार ने भी कहा है 'अक्षर साम्यात् निब्रूयात्' [निरुक्त १.१.] दिक्करवासिनी शब्द में संकेत का ग्रहण न तो व्याकरण से होता है, न कोष से और न निर्वचन से। इस शब्द का अर्थ-बोध हमें कालिका पुराण में उपलब्ध व्यास के वचन से होता है, और पता चलता है कि यह पद देवी का बोधक है।

“दिक्करस्तरुणः प्रोक्तस्तथा शम्भुश्च दिक्करः।

तस्मिन् यदूषिता देवी तस्माद् दिक्करवासिनी ॥”

[कालिका पु० अ० ४२]

साम्ब पद में संकेत का ग्रहण व्याख्यान के द्वारा होता है और विदित होता है कि यह पद शिव और कृष्ण के पुत्र का बोधक है। सोम शब्द में संकेत ग्रहण वक्ष्यशेष। अर्थात् प्रकरण के द्वारा होता है। उदाहरणार्थ 'सोम-याजी ब्राह्मणः' इत्यादि वाक्यों में भक्ति मार्ग के प्रसंग में सोम शब्द शिव का वाचक होगा और कर्म मार्ग के प्रकरण में यज्ञविशेष का वाचक। 'भवो भवतु भव्याय' इत्यादि वाक्यों में भव शब्द शब्दान्तर के सांनिध्य से शिव का वाचक है, संसार का वाचक नहीं। 'मुख्यकेश' शब्द में संकेत का ग्रहण 'मुख्य इव केशाः यस्य' इस व्युत्पत्ति से उपमान प्रमाण की सहायता से होता है।

इसी प्रकार 'शूली' शब्द में संकेत ग्रहण व्यवहार के द्वारा होता है ॥१५॥

बहुष्वर्थेषु संकेतो ह्यर्थादेरस्ति यद्यपि ।

तथाप्येकत्र भजते व्यापारस्य सहायताम् ॥१६॥

बहुष्विति । एकत्रेति । युगपद् बहुबोधसम्भवादिति भावः ॥१६॥

यद्यपि हरि आदि शब्दों का अनेक अर्थों में संकेत है तथापि [संयोगादि से नियंत्रित होकर] एक अर्थ में ही अर्थात् एक अर्थ की प्रतीति के लिए ही व्यापार की सहायता करता है । क्योंकि एक साथ अनेक अर्थों की प्रतीति संभव नहीं है ॥१६॥

सकृत्प्रयुक्तः शब्दोऽसौ सकृदेकार्थसाधकः ।

बाणवल्लद्यभेदे तु प्रयोगं पुनरर्हति ॥१७॥

अत्र हेतुमाह—सकृदिति । अर्थस्य साधको बोधकः, बाणपक्षे विदारणादिकारकः, लक्ष्यभेदे लक्ष्यान्तरेऽर्थान्तरे च साध्य इति शेषः ॥१७॥

एक बार प्रयुक्त शब्द एक काल में एक अर्थ को ही प्रगट कराता है । लक्ष्य भेद की स्थिति में अर्थात् अन्य अर्थ की प्रतीति में बाण के समान उसका पुनः प्रयोग किया जा सकता है ॥१७॥

एकोऽर्थः प्रकृतश्लेषे विकल्पादपरेऽपि च ।

अन्योऽर्थ उभयश्लेषे व्यापारबलतः क्वचित् ॥१८॥

श्लेषालङ्कारे बह्वर्थप्रसिद्धि निराकरोति—एक इति । अपरेऽप्रकृत-श्लेषेऽपि एकोऽर्थो न त्वनेक इत्यर्थः । तत्र हेतुर्विकल्पादिति । उभयश्लेषे त्वन्योऽर्थः कचिद् ग्रन्थे व्यापारबलतः शक्तिबलादेव स्वीकृतः । व्यञ्जनाबलादित्यन्ये ॥१८॥

प्रकृत श्लेष में ही वह एक अर्थ ही प्रकट कराता है । अप्रकृत श्लेष में भी वह हेतु विशेष के कारण अन्य अर्थ का बोध करा पाता है । [ऐसी स्थिति

में श्लेष हेतु पदों के कारण वाचक शब्द की पुनः कल्पना की जाती है ।]
 उभय श्लेष में दो/अर्थों की प्रतीति हो सकती है । ऐसी स्थिति में दो अर्थों की प्रतीति के लिए कुछ आचार्य शक्ति विशेष को स्वीकार करते हैं अर्थात् इन स्थितियों में व्यंजना व्यापार स्वीकार किया जाता है । ॥१८॥

अजो जयति कञ्जास्य इत्यत्रार्थो विकल्पितौ ।

साध्योऽजः सोमनिरतैरन्यत्रार्थो बलात् कृतः ॥१९॥

उदाहरणमाह—अज इति । अत्राजशब्दे हरिहरयोर्विकल्पात् प्रकृत-
 श्लेषः । कञ्जशब्दे चोपमानभूतयोश्चन्द्रपद्मयोर्विकल्पादप्रकृतश्लेषः । सोम-
 निरतैः सोमवारत्रतनिरतैरजः शिवः साध्यः यद्यनिरतैरजश्छागः साध्य इत्य-
 प्रकृतोऽर्थः शक्त्या व्यञ्जनया वा प्रतीयते । ‘अजो हरी हरे कामे विधौ छागे
 रघोः सुते’ इति विश्वः ॥१९॥

यथा—‘अजो जयति’ वाक्य में प्रकृत श्लेष माना जाता है । यहाँ अज पद शिव और विष्णु दोनों का वाचक है । यहाँ श्लेष प्रकरण में है । अतः शिवभक्ति प्रकरण में अज का अर्थ शिव होगा और विष्णु-भक्ति प्रकरण में विष्णु । ‘कंजास्यः’ इत्यादि पदों में अप्रकृत श्लेष है यहाँ कंजपद उपमानभूत चन्द्र और पद्म दोनों का वाचक हो सकता है । किन्तु एक काल में अन्यतर की ही प्रतीति होती है । ‘साध्यो अजः सोमनिरतैः’ वाक्य में उभयश्लेष है । यहाँ सोम पद का अर्थ सोमवार लेने पर अज पद का अर्थ शिव होगा । यहाँ सोम पद का अर्थ सोमयाग लेने पर अज पद का अर्थ छाग होगा । इस उभय श्लेष में अप्रकृत अर्थ की प्रतीति कुछ आचार्यों के मत में अभिधा से और अन्य आचार्यों के मत में व्यंजना होती है । ॥१९॥

अनेकलक्ष्यभेदोऽपि बाणदौ सम्भवेत् क्वचित् ।

वेगेनैकेन शब्दोऽपि नानार्थो युज्यते तथा ॥२०॥

उभयश्लेषे युक्तिमाह—अनेकेति । अनया युक्त्या शक्त्यैव प्रकृताप्रकृत-
 श्लेषसम्भव इति भावः । व्यञ्जनया तु निविवाद^१ एव ॥२०॥

जिस प्रकार कभी-कभी बाण आदि के द्वारा एक ही संधान में अनेक लक्ष्यों का वेध कर लिया जाता है, उसी प्रकार कभी-कभी एक बार प्रयुक्त शब्द भी अनेक अर्थों का बोध करा देता है । जो लोग अप्रकृत अर्थ की प्रतीति व्यंजना से मानते हैं उनके पक्ष में कोई विवाद नहीं है । ॥२०॥

नानार्थशब्दसंकेतं प्रकृते स्मारयन्ति ये ।

तद्वशात् प्रकृतेऽर्थे तु व्यापारोऽपि नियम्यते ॥२१॥

एकार्थशक्तिग्राहकाणि प्राग् दर्शितानि । इदानीमनेकार्थशब्दस्यैकस्मिन्नर्थे नियन्त्रणहेतुमाहनानार्थेति । प्रकृते स्मारयन्ति नियच्छन्तीत्यर्थः । न केवलं संकेत एव एकार्थविषयो व्यापारोऽपि तथैवेत्याह—तद्वशादिति ॥२१॥

नानार्थक शब्दों में प्रकृत में जो संकेत-विशेष का स्मरण कराते हैं उन स्मारकों के द्वारा पदगत संकेत एक अर्थ में ही नियत हो जाता है । ॥२१॥

संकेतस्मारकानाहुर्लिङ्गं प्रकरणं फलम् ।

व्यक्तिं प्रसिद्धसान्निध्यमार्हन्तीं च समर्थताम् ॥२२॥

देशं कालश्च चेष्टाश्च साहचर्यं विरुद्धताम् ।

संयुक्तत्वं वियुक्तत्वं स्वरदींश्च यथायथम् ॥२३॥

संकेतेति । आर्हन्तीमौचित्यम् ॥२२॥

देशमिति । यथायथं यथार्हम् ॥२३॥

नानार्थक शब्दों में अर्थ विशेष में संकेत के स्मारक निम्नलिखित हैं ।
लिङ्ग अर्थात् चिन्ह, प्रकरण, फल, व्यक्ति, प्रसिद्ध पदों का सान्निध्य, औचित्य, सामर्थ्य, देश, काल, चेष्टा, साहचर्य, विरोध, संयोग, विप्रयोग एवं स्वर इत्यादि यथावसर अर्थ विशेष में संकेत का स्मरण कराते हैं ॥२२-२३॥

देवस्त्रिनेत्रो जयति शूली जयति मु^१क्तिदः ।

स्थाणुं भजस्व विद्यायै शिवो^२ वन्द्यो जटी कधृक् ॥२४॥

देव इति । देवशब्दस्यानेकार्थस्य नेत्रत्रयरूपं लिङ्गं शिवे शक्ति-
नियामकम् । अत्र लिङ्गशब्देनासाधारणं चिह्नमुच्यते । न तु पुंस्त्वादिकम् ।
शूलीत्यस्यानेकार्थस्य मुक्तिदत्त्वं शिवे शक्तिनियामकम् मुमुक्षुवाक्यमेतत् । तेन
मुक्तिदानप्रकरणे पठितमिति बोध्यम् । हे मुने ? इति पाठे तु मुनिसम्बोधनात्
मुक्तिप्रकरणं ज्ञेयम् ।

स्थाणुशब्दस्यानेकार्थस्य भक्तविद्याकरणरूपं प्रयोजनं शिवे शक्ति
नियमयति । भवद्वस्यानेकार्थस्य पुंस्त्वनिर्देशः शिवे शक्ति नियमति । भवान्-
शब्दप्रयोगश्चेत् स्त्रीत्वं शिवायाम्, कं जलं धरति धारयतीति (वा) कधृग्
गङ्गाधरः अत्र जटिशब्दस्य प्रसिद्धार्थसन्निधिः शिवे शक्ति नियमयति, मेघादौ
जटित्वासम्भवात् ॥२४॥

‘देवः त्रिनेत्रो जयति’ वाक्य में देव पद अनेकार्थक है । किन्तु त्रिनेत्र चिन्ह
के कारण देव पदगत संकेत शिव अर्थ में ही समझा जाता है । ‘शूली जयति
मुक्तिदः’ [मुक्ति देने वाले शूली को जय हो] इत्यादि वाक्यों में शूली पद का
संकेत शिव अर्थ में है, यह नियम मुक्तिदान प्रकरण में रस वाक्य के प्रयुक्त
होने के कारण होता है । अर्थात् यहाँ प्रकरण अर्थ संकेत का नियमन करता
है । ‘स्थाणुं भजस्व विद्यायै’ [विद्या के लिए स्थाणु की उपासना करो]
वाक्य में फलभूत विद्या के कारण स्थाणु पद का संकेत शिव अर्थ में नियत
होता है । ‘भवो वन्द्यः’ [भव को प्रणाम करो] वाक्य में भव पद का पुलिङ्ग
में प्रयोग होने के कारण शिव अर्थ में संकेत का अर्थ नियमन होता है । और
यदि त्रिलिङ्ग में प्रयोग किया जाए तो पार्वती अर्थ हो जाएगा । ‘जटी कधृक्
वन्द्यः’ अर्थात् गंगाधर जटी को प्रणाम करो वाक्य में कधृक् ‘गंगाधर’ रूप

१. ‘मुक्तिदः’ इत्यत्र हे मुने ! इति वा पाठ इति मातृकास्थिता
टिप्पणी ।

२. भवो इति टीकास्वीकृतः पाठः ।

प्रसिद्ध अर्थ की सन्निधि के कारण जटीपद का शिव अर्थ में नियमन हो जाता है ॥२४॥

पूजितो जयति स्थाणुः स्थाणुर्जयति सर्वगः ।

स्थाणुर्जयति कैलासे कल्पान्ते स्थाणुरेककः ॥२५॥

पूजित इति । पूजायोग्यत्वं सर्वोत्कर्षश्च शिवे शक्तिं नियमयति । सर्वग-
इति । सर्वव्यापन-सामर्थ्यं शिवे शक्तिं नियमति । कैलासे इत्यत्र देशः, कल्पान्ते
इत्यत्र कालश्चेति । एक एव एककः, स्वार्थेकन् ॥२५॥

‘पूजितो जयति स्थाणुः’ [पूजा योग्य स्थाणु की जय हो] वाक्य में
पूजायोग्यता स्थाणु पद के संकेत को शिव अर्थ में नियत करती है । ‘स्थाणुः
जयति सर्वगः’ [सर्वव्यापक स्थाणु की जय हो] वाक्य में ‘सर्वत्र व्यापक होने
का सामर्थ्य’ स्थाणु पद के संकेत को शिव अर्थ में नियमित करता है । ‘स्थाणुः
जयति कैलासे’ [कैलास स्थित स्थाणु की जय हो] वाक्य में देशवाचक
कैलास पद स्थाणु पद के संकेत को शिव अर्थ में नियमित करता है । ‘कल्पान्ते
स्थाणुरेककः ।’ [प्रलय के अनन्तर अकेला स्थाणु रहता है] वाक्य में काल
वाचक स्कल्पान्त पद से प्रलयकाल का बोध होने से स्थाणुपद का संकेत शिव
अर्थ में ही नियमित हो जाता है ॥२५॥

इदं लिङ्गं महेशस्य साम्बः स्थाणुर्यदाश्रितः ।

सेव्यः स्मररिपुः स्थाणुः स्थाणुर्गङ्गाधरोऽवतु ॥२६॥

इदमिति । प्रत्यक्षवाचिनेदं शब्देन हस्तचेष्टया निर्देशाद् गम्यते । तेना-
नेकार्थय लिङ्गशब्दस्य शिवमूर्तिविषये शक्तिनियम्यते । साम्ब इति अम्बा-
साहचर्यात् स्थाणुशब्दस्य शिवे । स्मररिपुरिति । अत्र स्मरविरोधित्वेन स्थाणु-
शब्दस्य शिवे, गङ्गाधर इत्यत्र गङ्गासंयुक्तत्वेन स्थाणुशब्दस्य शिवे ॥२६॥

‘इदं लिङ्गं महेशस्य’ [यह शिव का लिङ्ग है] वाक्य में ‘इदम्’ पद
के साथ की गई चेष्टा के द्वारा ‘लिङ्ग’ पद के संकेत का ‘शिवमूर्ति’ अर्थ में

नियमन हो जाता है। 'साम्बः स्थाणुः यदाश्रितः' [अम्बा सहित स्थाणु जिसके आश्रय में हैं] वाक्य में साम्ब-पद के साहचर्य से स्थाणुपद के संकेत का शिव अर्थ में नियमन होता है। 'सेव्यः स्मररिपुः स्थाणुः' [काम के शत्रु स्थाणु की सेवा करो] वाक्य में स्मर के विरोध के कारण स्थाणुपद के संकेत का नियमन काम के विरोधी शिव अर्थ में होता है। 'स्थाणुः गङ्गाधरो ऽवतु' [गंगाधर स्थाणु हमारी रक्षा करें] वाक्य में गंगा से संयोग का बोध होने के कारण स्थाणुपद के संकेत का शिव अर्थ में नियमन होता है ॥२६॥

अशूलो ध्यानगः स्थाणुर्जयत्यसुरसूदनः ।

संयुक्तत्वे पृथक्त्वे च स्वयमूह्यं यथायथम् ॥२७॥

अशूल इति । ध्यानगो ध्यानस्थ इत्यर्थः । अशूलः शूलविमुक्तस्तेन स्थाणुशब्दस्य शिवे शक्तिः, असुरसूदन इत्यत्र इन्द्रशत्रुवत्तत्पुरुषस्वरेण शम्भौ शक्तिनियम्यते । वस्तुतस्तु काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते, 'स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः' [शुक्लयजुःप्रातिशाख्य, सूत्र १,] इति प्रातिशाख्यग्रन्थवचनात् । संयुक्तत्वे^१ मिश्रितत्वे पृथक्त्वेऽमिश्रितत्वे च यथायथं यथायोग्यं स्वयं विभावनीयम् ॥२७॥

'अशूलो ध्यानगः स्थाणुः' [शूलरहित ध्यानस्थ स्थाणु] वाक्य में शूलवियुक्त कहने के कारण ही स्थाणुपद का संकेत शिव अर्थ में नियत हो जाता है। 'जयति असुरसूदनः' [असुरों का विनाश करने वाले की जय हो] वाक्य में 'असुरश्च असौ सूदनः' विग्रह करने पर कर्मधारय समास होगा और असुर पद में प्रकृति स्वर होगा, अर्थात् असुरपदगत उदात्त स्वर विद्यमान रहेगा, तथा 'असुराणां सूदनः' विग्रह करने पर षष्ठी तत्पुरुष समास होगा, और समासान्त स्वर अर्थात् अन्तिम 'अ' उदात्त होगा। कर्मधारय समास की स्थिति में 'असुरसूदनः' पद का अर्थ विनाशक असुर तथा

१. संयुक्तत्वे इति । "शूलविष्णू विमुक्तिदौ" इत्यत्र मुक्तिप्रदान-सामर्थ्याद् विष्णुसन्निध्याच्च शूलशब्दस्य शिवे समर्थता प्रसिद्धार्थ-सन्निधिश्च शक्तिनियामकौ ।

पण्ठी तत्पुरुष समास की स्थिति में असुरों का विनाशक शिव अर्थ होगा । ये दोनों अर्थ भिन्न-भिन्न स्वर की स्थिति में समझे जायेंगे, यहाँ स्वर अर्थ के नियमन का हेतु होगा । उपर्युक्त उदाहरणों में संकेत के नियामक एक-एक तत्त्व हैं । इनके संयुक्त अर्थात् एकाधिक होने की स्थिति में अथवा पृथक्-पृथक् नियामक होने की स्थिति में उदाहरणों की कल्पना पाठक स्वयं कर लें । कुछ आचार्यों का मत है कि काव्यमार्ग में स्वर अर्थ का नियामक नहीं होता ॥२७॥

संकेतस्तु प्रतिव्यक्ति दुर्ज्ञेय इति हेतुभिः ।

जात्या गुणेन क्रियया सुबोधः संज्ञया तु सः ॥२८॥

इदानीं संकेतोपाधि निरूपयति—संकेत इति । 'प्रतिव्यक्तिप्रतिपिण्डं हेतुभिर्ज्ञापकैः सुबोधो भवति सुकरो भवति, भेदकोपाध्यवलम्बनादिति भावः ॥२८॥

क्योंकि पति व्यक्ति में संकेत ग्रहण का बोध दुष्कर है, और जाति, गुण और क्रिया में इसका बोध सुगम है; अतः जाति आदि उपाधियों में ही संकेत ग्रहण किया जाता है । कहीं-कहीं संज्ञा से व्यक्ति में भी संकेत ग्रहण होता है ॥२८॥

सामान्यं जातिरित्युक्तं गुणः शुक्लादिको मतः ।

क्रियोक्ता चलनादिश्च संज्ञा चाकृतिरेकिका ॥२९॥

उपाधीनां स्वरूपमाह—सामान्यमिति । नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम् । सामान्यादिभिन्ने द्रव्यभेदको धर्मो गुणः । कर्तृजन्या तदिष्ट-जनिका फलावसाना च क्रिया । 'सम्यग् ज्ञायतेऽनयेति संज्ञा'ति व्युत्पत्त्या एकव्यक्तिमात्रनिष्ठत्वादाकृतेरेकत्वम् । विस्तरभयात् प्रपञ्चो न क्रियत इति बोध्यम् ॥२९॥

जाति का अर्थ है सामान्य, अर्थात् जो नित्य एवं एक होते हुए भी अनेक में विद्यमान रहे । द्रव्य में रहने वाले भेदक स्थिरधर्म शुक्ल इत्यादि

गुण कहे जाते हैं। कर्ता द्वारा जिसे किया जाता है, जो अभीष्ट का भी जनक है तथा फल प्राप्ति पर जिसकी समाप्ति हो जाती है, उन चलन (गमन) आदि द्रव्यगत अस्थिर धर्मों को क्रिया कहते हैं। 'सम्यग्ज्ञायते अनया' इस व्युत्पत्ति के अनुसार एक व्यक्ति में विद्यमान रहने वाली आकृति को संज्ञा कहते हैं। उपर्युक्त जाति गुण क्रिया और संज्ञा इन चार उपाधियों में शब्द सकेत हुआ करता है ॥२९॥

अनुविद्धः शब्दबोधे शब्दो यादृच्छिकोऽथवा ।

डित्थादिव्यक्तिरथवा बाधाभावादुपेयताम् ॥३०॥

अनुविद्ध इति । अथवा पूर्वोक्तव्युत्पत्त्यैव यादृच्छिकः शब्दः संज्ञेत्यन्वयः । यदृच्छया स्वैरवृत्त्या कल्पितो यादृच्छिकः । 'यदृच्छा स्वैरवृत्तिः स्यात्' इत्यमरः । पूर्वोक्तप्रवृत्तिनिमित्तशून्य इत्यर्थः । स एव प्रवृत्तिनिमित्तत्वेन कल्पितः । ननु स वाचकाद्भिन्नरूपोऽभिन्नरूपो वेत्याशङ्क्य समाधत्ते—अनुविद्ध इति । शब्दबोधे शब्दजन्यार्थज्ञानेऽनुविद्धो वाचकाद् भिन्नतयोपाधित्वेन भासमान इत्यर्थः । यदाहुः—

‘न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र शब्दो न भासते’ [वा० प० १, १२४]

यद्यपि जात्यादिवाचकेष्वपि स भासते तथापि न तत्रोपाधितया, संज्ञाशब्दे तूपाधितयेति विशेषः ।

पुनः पक्षान्तरमाह—डित्थादीति । डित्थादीनां व्यक्तिरेव, बाधाभावाद । उपाध्यभावेऽपि व्यवत्थानन्त्यव्यभिचाररूपदोषाप्रसक्तेरिति भावः । कर्मव्युत्पत्तिः स्वभावादुपेयतां संज्ञात्वेन स्वीक्रियताम् । यदाहुः—

शब्दैरेभिः प्रतीयन्ते जातिद्रव्यगुणक्रियाः ।

चातुर्विध्यादमीषां तु शब्द उक्तश्चतुर्विधः ॥ इति ।

अयं पक्षो माघेऽपि दृश्यते । तथाहि—

असम्पादयतः कश्चिदर्थं जातिक्रियागुणैः ।

यदृच्छाशब्दवत् पुंसः संज्ञायै जन्म केवलम् ॥ [२, ४७] इति ।

जात्यादिशून्यव्यक्तिमात्रमिह संज्ञाशब्देन विवक्षितम् । यदृच्छया कल्पितत्वाद्यदृच्छाशब्देनापि संज्ञोपाधिरभिधीयत इति दिक् ॥३०॥

व्यक्तिष्वेव तु संकेतो जात्याद्यास्तदुपाधयः ।

न तु तेष्वेव संकेतः क्रियार्थानुपयोगतः ॥३१॥

व्यक्तिष्विति । तदुपाधयः = तस्य शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तानि उप समीपे आधीयते प्रकृतोपयोगितया स्थाप्यतेऽसावुपाधिरिति व्युत्पत्तेः, 'उपसर्गे घोः किः' । [३.३.९२] इति किः प्रत्ययः । क्रियार्थेति । गमनादिक्रियोपयोगित्वं गवादिव्यक्तेरेव, जलाहरणाद्यर्थोपयोगित्वं घटादिव्यक्तेरेव, चेतनाचेतनत्वात्, जात्यादेस्तु न तथेति । ननु व्यक्तिपक्षे तासामानन्त्यादसंकेतितबोधे व्यभिचाराच्चाभिव्यक्तेः संकेतितत्वे इतरव्यक्तीनां लाक्षणिकतया क्लिष्टत्वाच्च नायं पक्षः साधुरिति चेत् ? प्रवृत्तिनिमित्तद्वारा न कश्चिद्दोषः, सरूपाणामेकशेष [१।२।६२] इति सूत्रे यावन्तोऽर्थास्तावन्तः शब्दा इति निर्णयात् । व्यक्तिपक्षस्तूक्त एवेति दिक् ॥३१॥

अथवा क्यौंकि लोक में गाम् आनय आदि वाक्यों का प्रयोग होने पर आनयन क्रिया व्यक्ति में ही होती है, क्रिया में जाति आदि का उपयोग नहीं होता, फलतः व्यक्ति में ही संकेत स्वीकार किया जाना चाहिए । जाति आदि केवल उसकी उपाधियाँ हैं ॥३१॥

गौः शुक्लश्चञ्चलः शम्भोर्नन्दी वाहनकेतनम् ।

इत्यादौ क्रमतो ज्ञेयाः शब्दसंकेतहेतवः ॥३२॥

उदाहरणान्याह—गौरिति । वाहनं च तत्केतनञ्चेति कर्मधारयः । जात्या गौः, गुणेन शुक्लः, क्रियया चञ्चलः, संज्ञया नन्दी बोध्य इति शेषः । समासादिवृत्तिपञ्चके^१ संकेतचातुर्विध्यं नापैति । तत्र पक्षद्वयं जहत्स्वार्थाऽजहत्स्वार्थाभिदात् । जहत्स्वार्थापक्षे पूर्वसंकेतत्यागेन वृत्तौ सत्यां नूतनसंकेतकलृप्तः । अजहत्स्वार्थावृत्तिरिति पक्षे प्राचीन एव संकेत इति । विस्तरस्तु महाभाष्यादे-

१. कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः ।

रवगन्तव्यः । एतदुदाहरणं वाहनकेतनमिति गुणोपाधिरयम्, व्याकरणमते वाहनकेतनत्वयोर्गुणत्वात् । यथोक्तं भर्तृहरिणा^१—

सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग् जातिषु दृश्यते ।

आधेयश्च क्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिगुणः ॥ [महाभा० ४।१।४४] इति ।

‘गौ शुक्लः चलः शम्भोः नन्दी वाहनकेतनम्’ [शम्भु का वाहन चिह्न नन्दी वृषभ शुक्ल और चल है] वाक्य में गौ पद के संकेत का बोध जाति से, शुक्ल पद के संकेत का बोध गुण से, चल पद के संकेत का बोध क्रिया उपाधि से और नन्दी पद के संकेत का बोध संज्ञा उपाधि से होता है । इस प्रकार इनमें जाति आदि क्रमशः शब्द संकेत के हेतु हैं । वाहनकेतनम् पद के संकेत का बोध क्रिया जाति संयुक्त उपाधिद्वय से होता है ॥३२॥

जात्यादिष्वथवा ज्ञेयः संकेतस्तत्र लाघवात् ।

प्रमाणादिरतस्माच्च व्यक्तेर्वोधो हि जायते ॥३३॥

उपाधिभिश्चतुर्भिश्च बोध्यन्ते व्यक्तयोऽखिलाः ।

अविनाभावतस्तस्माच्छब्दवाच्या न ताः स्मृताः ॥३४॥

पक्षान्तरमाह—जात्यादिष्विति । उपाधिष्वेव संकेतः । व्यक्तेस्त्वविनाभावादाक्षेपः । लाघवादिति । एकशेषसूत्रस्यानारम्भणीयत्वेन एकेनानेकबोधाच्चेति भावः । आक्षिप्ताया व्यक्तेरर्थक्रियाकारित्वं न विरुध्यत इति दिक् । इतरस्मादिति । प्रत्यक्षानुमानादर्थपत्तेर्वा ॥३३॥

उपाधिरिति । व्यक्तयोऽविनाभावतो बोध्यन्ते । व्यक्तिभिर्विनापाधीनामनवस्थानान्नान्तरीयकतया जलमानयेत्यत्राशब्दवाच्यत्वेऽपि घटवत् प्रतीयन्त भावः ॥३४॥

अथवा लाघववश शब्दसंकेत जाति आदि में ही स्वीकार किया

जाना चाहिए। प्रमाण [शब्द प्रमाण] अथवा प्रत्यक्ष आदि के कारण व्यक्ति का बोध होकर अर्थक्रियाकारितासंभव हो सकती है। अतः व्यक्ति में संकेत मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि व्यक्ति जाति आदि उपाधियों के बिना नहीं रह सकते अतः जाति आदि उपाधियों के द्वारा व्यक्तियों का बोध स्वतः हो आएगा। उन्हें शब्द वाच्य होने की आवश्यकता नहीं है ॥३३-३४॥

प्रमाणान्तरगम्येऽर्थे न शब्दस्य प्रमाणात् ।

लाघवात् स्वीकृता तस्मात् संकेतो नास्ति वस्तुषु ॥३५॥

प्रमाणान्तरेति । अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थ इति न्यायात् प्रमाणान्तरगम्यासु व्यक्तिषु न संकेत इति भावः ॥३५॥

शब्द प्रमाण का विषय भिन्न है और इतर प्रमाणों का विषय भिन्न। इतर प्रमाणों द्वारा गम्य विषय में शब्द प्रमाण का प्रवेश नहीं होता; तथा शब्द-प्रमाण द्वारा लभ्य शब्दार्थ की प्रतीति अन्य प्रमाणों से नहीं होती। फलतः प्रमाणान्तरलब्ध व्यक्ति में शब्दसंकेत स्वीकार नहीं किया जा सकता ॥३५॥

सर्वत्र सम्भवाज्जातेः सः सा वा संकेतगोचरः ।

तद्विशिष्टाथवा व्यक्तिरपोहो वा मतान्तरे ॥३६॥

मतान्तरमाह—सर्वत्रेति । उपाधिचतुष्टयेऽपि जातिसम्भवो वैयाकरण-मते द्रष्टव्यः । हिमपयश्शंखादिषु शुक्लगुणरूपव्यक्तिभेदाद् गुडतण्डुलपाकादिक्रियाभेदाद् डित्थादिशरीरस्योपचयापचयाभ्यां प्रतिक्षण भिन्नतयाऽनेकत्वाच्च सर्वत्र सामान्यमस्तीति । यद्यपि शरीरादिशब्दानां सङ्करदूषितत्वाज्जातिवाचित्वं न सम्भवति, तथापि—

आकृतिग्रहणा^१ जातिलिङ्गानां च न सर्वभाग् ।

१. अनुगतसंस्थानव्यङ्ग्येत्यर्थः । यथा तटी ।

सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या^१ गोवध्व^२ चरणैः सह ॥

[सि० कौ० पृ० १५२ (४।१।६३)]

इति लक्षणानुसारेण न कश्चिद्विरोधः । तद्विशिष्टेति । अस्मिन् पक्षे लाघवं व्यवहारसिद्धेः स्यादिति भावः । अपोहस्तद्व्यावृत्तिः प्रतीतिलक्षणा आकृतिरिति यावत् ॥३६॥

क्योंकि जाति सर्वत्र सम्भव है । अतः गुण क्रिया और व्यक्तियों में संकेत न मानकर जाति में ही संकेत माना जा सकता है । अर्थक्रियाकारिता की दृष्टि से जाति विशिष्ट व्यक्ति में संकेत की कल्पना भी स्वीकार की जा सकती है । बौद्ध परम्परा में अपोह अर्थात् तदभिन्नरूप से प्रतीत आकृति में संकेत स्वीकार किया जाता है ॥३६॥

जातिव्यक्त्याकृतिरर्थमाहुरन्येऽत्र गौरवम् ।

शब्दार्थः प्रथमा व्यक्तिरन्या लाक्ष्णिका मता ॥३७॥

व्यक्तेरेवोपयोगेनेत्याहुः केचिन्न चारु तत् ।

लिङ्गसंख्याकारकेषु संकेतः कैश्चिदिष्यते ॥३८॥

पुनर्मतभेदमाह—जातिरिति । तथा च सूत्रम्—‘जात्याकृतिव्यक्त्यस्तु पदार्थः’ [न्या० सू० अ० २, आ०, २ सू० ६४] इति । अत्र गौरवमिति शक्यतावच्छेदकनानात्वादिति भावः । पुनर्मतभेदमाह—शब्दार्थ इति । इदमपि गौरवग्रस्तं क्लिष्टं चेति भावः ॥३७॥

अत्राद्ध^१ पूर्वश्लोकेन संबध्यते । लिङ्गसंख्येति ॥३८॥

१. असर्वलिङ्गत्वे सत्येकस्यां व्यक्ती कथनाद् व्यवत्यन्तरे कथनं विनापि मुग्रहा जातिरिति लक्षणान्तरम् । यथा वृषलो । सत्यन्त किम् ? शुक्रा । सकृदित्यादि किम् ? देवदत्ता ।
२. अपत्यप्रत्ययान्तः शाखाध्येतृवाची च शब्दो जातिकार्यं लभत इति । यथा औषगवी, कठी च ।

न्याय परम्परा में जाति, व्यक्ति और आकृति तीनों में संकेत माना जाता है, किन्तु इस सिद्धान्त के स्वीकार करने पर शक्यता अवच्छेदक धर्म अनेक मानने होंगे, अतः गौरव दोष होगा। एक अन्य परम्परा में शब्द संकेत व्यक्ति में माना जाता है। उनके अनुसार शब्दार्थ व्यक्तिरूप होता है, क्योंकि उसकी ही प्रथम प्रतीति होती है। शब्द के द्वारा व्यक्ति के अतिरिक्त जहाँ जाति आदि की प्रतीति होती है, वहाँ वह प्रतीति अभिधा द्वारा न होकर लक्षणा द्वारा होती है। इस पक्ष में मुख्य तर्क यह दिया जाता है कि अर्थ क्रिया कारित्व व्यक्ति में ही है, अतः व्यक्ति को ही शब्दार्थ मानना उचित है। कुछ आचार्य लिंग संख्या और कारक में भी संकेत स्वीकार करते हैं ॥३७ ३८॥

विभक्तिवाच्यता तेषां वस्तुतश्चारुतायुता ।

प्रथमं दर्शितः पक्षः साधीयानेषु सम्मतः ॥३९॥

विभक्तीति । वस्तुतस्तु पदसंकेतपक्षः स्फोटवादिसम्मतः । एषु पक्षेषु प्रथमः पक्षः साधीयान् दोषरहित इत्यर्थः । अन्यत्र दोषसम्भवः स्वयमूहः । विस्तरभयाद् विरम्यते ॥३९॥

अर्थ प्रतीति के संबंध में आचार्यों में तीन परम्पराएँ हैं—(१) एक परम्परा के अनुसार प्रत्येक पद का अर्थ नियत हुआ करता है और पदार्थ बोध के अनन्तर समन्वित होने पर वाक्यार्थबोध होता है। (२) दूसरी परम्परा के अनुसार वाक्य में पद सदा अन्वित रहते हैं, और अन्वित पद रूप वाक्य से अन्वित अर्थ रूप वाक्यार्थ की एक साथ प्रतीति हुआ करती है। इस मान्यता के अनुसार पद और पदार्थ केवल काल्पनिक हैं। (३) तीसरी मान्यता के अनुसार पदावयव प्रकृति प्रत्यय विभक्ति आदि सार्थक होते हैं, और उनके समन्वय होने पर पदार्थ तथा वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। पदार्थ और वाक्यार्थ विशुद्धरूप से काल्पनिक हैं। इन तीनों पक्षों को क्रमशः पदस्फोट वाक्यस्फोट और वर्णस्फोट को सिद्धान्तों के नाम से जाना जाता है। इन तीन पक्षों में वाक्यांशभूत पद संकेत पक्ष अधिक निर्दोष है, और वही सम्मत भी है ॥३९॥

शास्त्रादेर्ज्ञातसंकेतः प्रयोगेऽन्यपदान्वितः ।

अर्थस्यान्वययोग्यस्य शब्दो वृत्त्यैव बोधकः ॥४०॥

शास्त्रादेरिति । संकेतस्य सर्वदा विद्यमानत्वाच्छास्त्रादिना तज्ज्ञानं संपाद्य वृत्त्यैव व्यापारेणैव बोधको भवति । प्रयोगदशायामेव वृत्तिसंकेतयो-
र्भेदः ॥४०॥

प्रत्येक पद में निविष्ट संकेत का शास्त्र आदि से ज्ञान होने पर जब वाक्यों में उसका प्रयोग किया जाता है, तब अन्य पदों से अन्वित अर्थ की प्रतीति होती है । इस प्रकार अर्थ से अन्वययोग्य शब्द-वृत्ति अर्थात् अभिधा आदि व्यापारों के द्वारा अर्थ का बोध कराता है ॥४०॥

शब्दानामर्थविषये बोधाभावतमश्छिदा ।

बोधानुकूला या वृत्तिः सा फलादनुमीयते ॥४१॥

वृत्तिसत्त्वे प्रमाणमाह—शब्दानामिति । अज्ञानध्वान्तनाशिनी बोधा-
नुकूला ज्ञाततायाः कारणमित्यर्थः । फलात् ज्ञाततारूपात् अन्यथाऽज्ञातता
निवृत्तिपूर्वकज्ञाततोत्पत्तिर्न स्यादिति भावः । न च शब्दस्वरूपं केवलसंकेतो वा
फलहेतुरिति वाच्यम्, सर्वदा तदुत्पत्तिप्रसङ्गात् । प्रयोगकाल एव तदुत्पत्ते
(ज्ञाततोत्पत्तेः) रिति भावः ॥४१॥

शब्दों के अर्थ बोध के सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है कि केवल शब्द-
स्वरूप अथवा केवल संकेत अर्थबोध रूप फल की उत्पत्ति में कारण नहीं
होता, अपितु प्रयोग के समय अर्थबोध के अनुकूल बोधा-भाव [अज्ञातता
रूप अन्धकार] की दूर करने वाला एवं ज्ञातता रूपी फल को देने वाला शब्द
व्यापार भी रहता है । ऐसा अनुमान किया जाता है ॥४१॥

शाब्दिकैः सा स्मृतैकैव त्रिविधापि स्वरादिवत् ।

अभिधा लक्षणा व्यक्तिरित्याख्या त्रितयं मतम् ॥४२॥

शाब्दिकैरिति । अभिधा ह्रस्वतुल्या, लक्षणा दीर्घतुल्या, व्यञ्जना प्लुत-

तुल्या । स्वरत्वमिव वृत्तित्वं त्वेकमिति भावः । प्रयोजनं तु शाब्दबोधस्थले लाघवमिति दिक् ॥४२॥

जिस प्रकार वैयाकरण ह्रस्व दीर्घ और प्लुत तीन प्रकार के स्वर मानते हैं, उसी प्रकार शब्दार्थ की मीमांसा करने वाले आचार्य अभिधा लक्षणा और व्यंजना नाम से तीन शब्द व्यापार स्वीकार करते हैं ॥४२॥

एतास्तिष्ठः पृथक् शक्तिलक्षणाव्यञ्जनाभिधाः ।

अलङ्कारविदां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यार्थगोचराः ॥४३॥

मतान्तरमाह—एता इति । पृथगिति । परस्परविलक्षणा विजातीयाश्च, गौरवे बोधाभावादिति भावः ॥४३॥

अभिधा, जिसे कभी-कभी शक्ति भी कहा जाता है । लक्षणा और व्यंजना नामक इन तीन शक्तियों से प्रकट होने वाले अर्थ को अलंकार शास्त्र के आचार्य वाच्य लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ स्वीकार करते हैं । इन तीनों अर्थों का पृथक्-पृथक् रूप से उपयोग काव्यों में ही उपलब्ध होता है, अन्यत्र नहीं ॥४३॥

नेच्छन्ति व्यञ्जनामन्ये युक्तिभिर्दूष्यते तु तत् ।

त्रिविधैषा ततः शब्दत्रैविध्यस्योपपादिका ॥४४॥

नेच्छन्तीति । दूष्यत इति । अलङ्कारिकैरित शेषः ॥४४॥

कुछ आचार्य [महिमभट्ट आदि] तथा मीमांसक एवं नैयायिक व्यंजना शक्ति को स्वीकार नहीं करते । आनन्दवर्धन अभिनवगुप्त और मम्मट आदि आचार्यों ने उनके पक्ष का विधिवत् खण्डन किया है । इस प्रकार ये शक्तियाँ तीन ही हैं, जिनके फलस्वरूप शब्दों को भी तीन प्रकार का माना जाता है ॥४४॥

स वाचको लक्षकश्च व्यञ्जकश्चेति वृत्तितः ।

शक्यलक्ष्यप्रतीत्यानामर्थानां त्रिविधत्वकृत् ॥४५॥

स इति । प्रतीत्यो व्यङ्ग्यः ॥४४॥

शब्द व्यापार के आधार पर शब्दों के निम्नलिखित तीन प्रकार हैं—
(१) वाचक, (२) लक्षक, (३) व्यञ्जक । शब्द के इन तीन प्रकारों के आधार पर अर्थ भी शक्य [अभिधेय या वाच्य] लक्ष्य और प्रतीत्य [प्रतीयमान या व्यग्य] भेद से तीन प्रकार के हो जाते हैं ॥४५॥

तात्पर्याख्यापि केषाञ्चिद् वृत्तिर्वाक्यगता मता ।

न नामन्ये तु मन्यन्ते पूर्वान्तर्भावयुक्तितः ॥४६॥

कुछ आचार्य वाक्यगत तात्पर्य नामक व्यापार को भी स्वीकार करते हैं, किन्तु अन्य [सिद्धान्ती] आचार्यों के अनुसार तात्पर्य नामक अतिरिक्त वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त तीन वृत्तियों में ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है ॥४६॥

प्रथमा त्रिविधा तत्र रूढिर्योगस्तथोभयी ।

अखण्डशब्दे सा रूढिर्योगः खण्डनकल्पिते ॥४७॥

मिश्रोभयत्वसाकाङ्क्षे क्रमेणासौ प्रदर्श्यते ।

शिवं स्मरे गणपतिं देवं वन्दे पुरद्विषम् ॥४८॥

प्रथमा = अभिधा, उभयी = योगरूढिः, खण्डनकल्पिते = प्रकृत्यादिविभागजनिते ॥४७॥

मिश्रेति । मिश्रा योगरूढिः । शिवमिति । शिवशब्दो ह्यखण्डः, प्रकृत्यादिविभागाप्रतीतेः । यद्यपि शिवतत्त्वविवेके—

हिमि धातोः सिंहशब्दो वशकान्तौ शिवः स्मृतः ।

वर्णव्यत्ययतः सिद्धौ पश्यकः कश्यपो यथा ॥

इति सखण्डत्वमपि दृश्यते, तथापि सर्वविदितत्वाभावादनस्तिकल्पम् । गणपतिरिति खण्डनकल्पितत्वाद्योगः । पुरद्विषमिति क्रिबन्तत्वाद्योगः । शिव एव प्रयोगादितरपुरदाहकनृपादावप्रयोगाच्च रूढिः ॥४८॥

अभिधा शक्ति के पुनः तीन प्रकार हो जाते हैं—(१) रूढ़िमयी, (२) योगमयी तथा (३) उभयी । जिन शब्दों में धातु प्रत्यय के आधार पर खण्ड की कल्पना नहीं की जा सकती, उन शब्दों में रूढ़ि अभिधा मानी जाती है । जिन शब्दों में व्युत्पत्तिमूलक खण्ड किए जा सकते हैं, उन शब्दों में रहने वाली अभिधा को योगमयी अभिधा अथवा यौगिक अभिधा कहते हैं । जिन शब्दों में प्रकृति प्रत्यय भेद की कल्पना तो की जा सकती है, किन्तु उस कल्पना के आधार पर प्रकट होने वाले सभी अर्थों को स्वीकार न करके अन्यतम को ही स्वीकार किया जाता है, उन शब्दों में रहने वाली अभिधा शक्ति को उभयी अथवा योगरूढ़ि अभिधा कहते हैं । 'शिवं स्मरे' वाक्य में शिव शब्द में रूढ़ि अभिधा है । 'गणपतिं देवं वंदे' वाक्य गत 'गणपति' शब्द में यौगिक अभिधा है । तथा 'देवं वंदे पुरद्विषम्' वाक्यगत 'पुरद्विष' शब्द में योगरूढ़ि अभिधा स्वीकार की जाती है, क्योंकि प्रथम अंश में खण्ड की कल्पना सम्भव नहीं है, जबकि द्वितीय अंश में समास विग्रह के आधार पर प्राप्त होने वाला व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ भी स्वीकार किया जाता है । इसके विपरीत तृतीय अथवा पुरद्विष शब्द में खण्ड की कल्पना तो की जाती है, किन्तु व्युत्पत्ति लभ्य अनेक अर्थों में से केवल एक अर्थ ही स्वीकार किया जाता है, अतः इस पद में योग रूढ़ि अभिधा मानी जाती है ॥४७-४८॥

शब्दावयवयोगेन

योगशक्तिरनेकधा ।

गुणाश्रया नीलकण्ठे मारमारे क्रियाश्रया ॥४९॥

शब्देति । अनेकधेति । ^१अभिधानचिन्तामणौ योगोऽन्वयः । स तु गुण-क्रियासम्बन्धाभिसम्भव इति ॥४९॥

शब्दावयव के आधार पर योगशक्ति [यौगिक अभिधा] अनेक प्रकार की हो सकती है, उदाहरणार्थ 'नीलकण्ठ' शब्द में गुणाश्रया यौगिक अभिधा है, तथा 'मार-मार' [मारजित्] शब्द में क्रियाश्रया यौगिक अभिधा कही जा सकती है ॥४९॥

१. बहुशोऽन्विष्टोऽपि तत्र नोपलब्धोऽयं पाठः ।

सम्बन्धजापि वाक्यादौ विचित्रा त्रिपुरद्विषि ।

कचिद् रूढौ कचिद् योगे मिश्राविश्रान्तिरिष्यते ॥५०॥

सम्बन्धजेति । विचित्रेति । द्वेषगुणाश्रया द्वेषणक्रियाश्रया च द्वेष्यद्वेषक-
भावसम्बन्धाश्रया चेत्यर्थः । द्वेषस्य गूढत्वं तर्कशास्त्रादवगन्तव्यम् । योगरूढौ
भागत्यागलक्षणायामिव प्रयोगानुसारादमिश्रणमपि सम्भवतीत्याह—वच-
दिति । प्रसिद्धप्रयोगेष्वित्यर्थः ॥५०॥

कई बार वाक्य आदि में द्वेषगुणाश्रया, द्वेषणक्रियाश्रया, द्वेष्य-द्वेषक-
भाव सम्बन्धाश्रया विचित्र अभिधा भी देखी जा सकती है । 'त्रिपुर द्विष' शब्द
इस प्रकार की सम्बन्धाश्रया अभिधा का उदाहरण है । कभी कभी योग रूढ़ि
शब्दों में भी केवल योग अथवा केवल रूढ़ि की विवक्षा भी हो सकती है ॥५०॥

उभयत्र तु सर्वत्र शम्भुं वन्दे मृडं नृणाम् ।

शङ्करः स्तूयतामेवं पदैः शक्तैः सुखार्थिभिः ॥५१॥

इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारीणरामजिभट्टात्मजाशाधरभट्टविरचिते
काविदानन्दे वृत्तिनिर्णयेऽभिधापरिच्छेदः प्रथमः ॥

उभयत्रेति । सर्वत्र शब्देषु योगरूढप्रयोगेष्वित्यर्थः । उदाहरणान्याह—
शम्भुमिति । शं भवत्यस्मादिति शम्भुरिति योगेन शिववाचकतया प्रसिद्ध्या च
शम्भुशब्दो योगरूढः । तस्यात्र योगो न विवक्षितः, नृणां मृडमिति विशेषणा-
नुरोधात् । एवं मृडशब्दोऽपि मृडयतीति मृड इति योगेन शिववाचकतया
प्रसिद्ध्या च योगरूढः ।

तस्य रूढिर्न विवक्षिता किन्तु योगमात्रम्, शम्भुमिति विशेष्यप्रयोगा-
नुरोधान् । शङ्कर इति । शं करोतीति योगेन शिववाचकत्वेन प्रसिद्ध्या च
शङ्करशब्दो योगरूढः । तस्योभयमपि विवक्षितमेव वाचकाभावात् । न चात्र
भागत्यागलक्षणा शङ्क्या, मुख्यार्थबाधाभावात् । एवमन्यत्रापि—

स्वयम्भूः शम्भुरम्भोजलोचने त्वत्पयोधरः ।

नखेन कस्य धन्यस्य चन्द्रचूडो भविष्यति ॥

इत्यादावपि द्रष्टव्यम् । विस्तरभयाद्विरम्यते ॥५१॥

इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारावारीणधुरीणरामजिभट्टात्मजाशाधरभट्टविरचितायां
कादम्बिनीसमाख्यायां स्वकृतकोविदानन्दव्याख्यायामभिधापरिच्छेदः प्रथमः ॥

उदाहरणार्थं शम्भु शब्द 'शम् भवति अस्मात्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार
यौगिक माना जा सकता है, किन्तु इसमें योग की विवक्षा नहीं रहती और यह
पद शिव अर्थ में रुढ़ हो गया है । इसी प्रकार 'मृड' शब्द 'मृडयति इति मृडः'
व्युत्पत्ति के अनुसार यौगिक माना जा सकता है, किन्तु यह पद भी शिव अर्थ
में ही रुढ़ है । यही स्थिति 'सुखार्थिभिः शंकरः स्तूयताम्' वाक्य में शंकर पद
की है, यहाँ शंकर पद में योग और रुढ़ि दोनों की विवक्षा है ॥५१॥

व्याकरण 'पद' मीमांसा 'वाक्य' और प्रमाण 'न्याय' के विद्वान् रामजी
भट्ट के पुत्र आशाधर भट्ट विरचित वृत्ति निर्णय विषयक कोविदानन्द ग्रंथ में
अभिधा परिच्छेद नामक प्रथम परिच्छेद पूर्ण हुआ ।

अथ लक्षणा निरूपणम्

शक्यार्थबाधे संकोचः प्रसारः प्लुतिरेव वा ।

संकेतस्य स्मृता वृत्तिर्लक्षणा योगसम्भवे ॥१॥

अभिधां निरूप्य लक्षणां निरूपयति—शक्येति । शक्यार्थस्य संकेतितार्थस्य बाधे प्रवृत्तानुपयोगे सति संकोचो न्यूनत्वं प्रसारश्चाधिकत्वं प्लुतिरुल्लङ्घनं तत्त्यागेनान्यार्थाश्रयणमित्यर्थः । योगसम्भवे सम्बन्धसत्त्वे न तु सम्बन्ध एव लक्षणेति भावः ॥१॥

शक्यार्थ [मुख्यार्थ] का बाध होने पर योग अर्थात् सम्बन्ध विच्छेद की सहायता से लक्षणा व्यापार अर्थ की प्रतीति कराता है । इस व्यापार की स्थिति में शब्द संकेत में संकोच प्रसार अथवा उसका त्याग हो जाता है ॥१॥

त्रैविध्यमेतच्छ्रुतं वा लक्षणावृत्तिरिष्यते ।

वृत्तिः संकेतयोः केचिन्मन्यन्त उभयोरपि ॥२॥

पक्षान्तरमाह—शक्तेरिति । शक्तेरभिधाया एतत्संकोचादित्रैविध्यम् वृत्तित्वेनैतस्या एवौचित्यादिति भावः । उभयोरपीति । वस्तुतस्तु विनिगमनाविरहादिति भावः ॥२॥

शब्द संकेत के उपयुक्त संकोच आदि के आधार पर कुछ आचार्य अभिधा व्यापार में त्रैविध्य मानते हैं । एक अन्य मत के अनुसार अभिधा व्यापार और शब्द संकेत दोनों में ही यह संकोच, प्रसार और त्याग हुआ करता है ॥२॥

प्लुतिस्तु जहती नाम प्रस्तारोऽजहती च सा ।

संकोच उभयी ज्ञेया सम्बन्धादप्यनेकधा ॥३॥

उत्तक्रमप्रातिलोम्येन प्रसिद्धमाह—प्लुतिरिति । अनेकधेति । शक्य-
लक्ष्ययोः प्रसिद्धतामाह—सम्बन्धस्य नानाविधत्वाल्लक्षणापि तथेत्यर्थः ॥३॥

अभिधा आदि के त्याग की स्थिति में होने वाली लक्षणा को जहती लक्षणा उनके प्रसार की स्थिति में अजहती लक्षणा और संकोच क. स्थिति में उभयी अर्थात् जहदजहती लक्षणा होती है । अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ के मध्य विद्यमान रहने वाले सम्बन्ध के आधार पर भी लक्षणा के अनेक भेद हो सकते हैं ॥३॥

ॐकारलिङ्गं रेवायां शोणैरर्च्यं दिनोदये ।

यतः प्रफुल्लाः पद्मिन्यस्तत्रेत्यादौ यथाक्रमम् ॥४॥

उदाहरणान्याह—रेवायामिति । अत्र रेवाशब्देन तत्तीरे लक्षणा, स्था-
पितस्य ज्योतिर्लिङ्गस्य प्रवाहेऽवस्थानासम्भवाच्च मुख्यार्थबाधः । प्रवाहतीरयोः
संयोगसम्बन्धः । रेवाशब्दे जहती नाम लक्षणा । जहत्त्वं शब्दधर्मो लक्षणायासा-
रोप्यतेऽन्तर्भावितण्यर्थो वा जहातिः, धातूनामनेकार्थत्वात् । अत्र गङ्गायां घोष
इति प्रसिद्धोदाहरण तून्नेयप्रत्यक्षत्वाद् घोषशब्दस्यानेकार्थत्वाच्च सन्दिग्धम्, इदं
तु स्पष्टमिति बोध्यम् । शोणैरिति । शोणगुणस्य पूजोपयोगासम्भवात् तद्वति
द्रव्ये लक्षणा । सा चाजहद्गुणरूपार्थस्य त्यागाभावात् । समवायश्चात्र
सम्बन्धः । शोणो धावतीति प्रसिद्धोदाहरण तून्नेयप्रकरणत्वेनास्पष्टम् । इह तु
पूजाप्रकरणात् पद्मिनीसमवायोक्तेश्च कमलपरत्वेन स्पष्टतरमिति बोध्यम् ।
पद्मिन्य इति । पद्मिनीशब्देन तदेकदेशेषु जहदजहल्लक्षणा, सर्वावयवानां
प्रफुल्लत्वासंभवात् । अप्रफुल्लानां त्यागः प्रफुल्लानां चावयवानां पद्मिनीशब्देन
लक्षणयोपस्थितिः । अप्रफुल्लावयवानां प्रत्यक्षेणोपलम्भाद् मुख्यार्थबाधः, सम-
वायश्चात्र सम्बन्धः । प्रफुल्ला इति फुल्ल विकसने इति धातोः पचाद्यचि ज्ञेयम् ।
'अनुपसर्गात् फुल्ल०' [८।२।५५] इत्यादिसूत्रं तु धात्वन्तरविषयम् । लक्षणा
वेदान्तेषु 'तत्त्वमसि' इति महावाक्ये ब्रह्माद्वैतप्रतिपादनाय स्वीकृता ।
तत्प्रपञ्चस्तु विस्तरभयान्न क्रियते ॥४॥

'ॐकारलिङ्गं रेवायाम्' वाक्य में रेवा नदी अर्थात् जल धारा में

‘ज्योर्तिलिङ्ग’ की स्थापना सम्भव नहीं है। अतः मुख्यार्थ बाध के कारण प्रवाह से संयोग द्वारा सम्बद्ध तोर की ‘रेवा’ शब्द से प्रतीत होगी। यहाँ रेवा शब्द में जहती लक्षणा है। यहाँ ‘जहत्व’ धर्म शब्द में रहने वाला है, जिसका लक्षणा पर आरोप किया गया है। क्योंकि शब्द ने अपने अर्थ को छोड़ दिया है। ‘शोणैरर्च्यम् दिनोदये’ वाक्य में विद्यमान ‘शोण’ पद गुण वाचक है। ‘अर्चना’ द्रव्य से सम्भव है, गुण से नहीं। इस प्रकार मुख्यार्थ बाध होने पर शोण पद के अर्थ लाल गुण से युक्त पद्मिनी आदि पुष्प-द्रव्य का बोध होता है। यहाँ शोण पद के अभिधेयार्थ ‘लाल’ गुण और लक्ष्यार्थ लाल पुष्प के बीच समवाय सम्बन्ध है। प्रस्तुत वाक्य में लक्ष्यार्थ की प्रतीति के समय शेष गुण का त्याग नहीं होता, अतः इसे अजहती लक्षण कहा जाएगा। ‘यतः प्रफुल्लाः पद्मिन्यः’ [क्योंकि उस समय पद्मिनी खिली होती हैं] वाक्य में ‘पद्मिनी’ पद से पूजा प्रकरण में सरोवर अर्थ की संगति न होगी, अतः पद्मिनी में समवाय सम्बन्ध से संबद्ध पद्म अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा होगी। पद्मिनी से प्रतीत होने वाले इस अर्थ में प्रफुल्ल पद्मों का ग्रहण और अप्रफुल्ल पद्मों का त्याग होता है। इस प्रकार कुछ अवयवों के त्याग और कुछ अवयवों के ग्रहण के कारण उभयी लक्षणा अर्थात् जहदजहती लक्षणा स्वीकार की जाएगी। वेदान्त में ‘तत् त्वमसि’ इत्यादि महावाक्यों की व्याख्या में भी जीव ब्रह्माद्वैत का बोध जहदजहती-लक्षणा के द्वारा ही होता है ॥४॥

शक्यलक्ष्यार्थसम्बन्धं लक्षणं तार्किका विदुः ।

अन्यैः शक्यान्यसम्बन्धे प्रोक्ता भक्तेः सहायता ॥५॥

शक्येति । लक्षणायाः क्रियारूपत्वात् सम्बन्धस्य तद्विज्ञत्वाच्च तन्मतं विरुद्धमिव भातीति तदपमर्दकमालङ्कारिकमतमाह—अन्यैरिति । आलङ्कारिकैः शक्यार्थस्य सम्बन्धे भज्यतेऽनयेति भक्तिः, बाहुलकात् करणे क्तिन्, बुद्ध्यादिशब्दवत् तस्या लक्षया अभिधाया संकेतस्यैव सहकारित्वमुक्तं न तु त एमन्नेव लक्षणात्वमङ्गीकृतमिति भावः ॥५॥

नैयायिक लोग शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं ।

यह उचित नहीं है । क्योंकि लक्षणा एक व्यापार है, क्रिया है । वह सम्बन्ध रूप नहीं हो सकता । आलंकारिक आचार्य 'शक्यार्थस्य सम्बन्धे भज्यते अनया द्वितीयो अर्थः सः भक्ति' व्युत्पत्ति के आधार पर लक्षणा के लिए भक्ति शब्द का प्रयोग भी करते हैं । उनके अनुसार लक्षणा में अभिधा संकेत सहकारी हुआ करते हैं ॥५॥

सम्बन्ध एव भक्तिश्चेच्छब्दवृत्तिर्न सा भवेत् ।

अर्थाश्रयत्वाद् भक्तिस्तु शब्दद्वारार्थगा मता ॥६॥

अत्र युक्तिमाह—सम्बन्ध इति । सम्बन्धस्य क्रियाभिन्नत्वादर्थमात्रनिष्ठत्वाच्च स भक्तेभिन्न एवेति भावः । यद्यपि भक्तेरर्थगतत्वमपि स्वीकृतम्, तथापि प्रदीपप्रभाया धटादिष्विव विषयतामात्रं तदवस्थानं तु शब्द एवेत्याह—शब्दद्वारेति ॥६॥

यदि शक्य लक्ष्यार्थ सम्बन्ध को ही भक्ति [लक्षण] स्वीकार किया जाए, तो वह शब्द का व्यापार न हो सकेगा । भक्ति क्योंकि अर्थाश्रित है अतः शब्द द्वारा अर्थ तक उसकी गति हो सकती है, अतः उसे व्यापार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ॥६॥

त्रिविधापि पुनर्द्धेया निरूढा च फलान्विता ।

स्तुवन्ति वाग्भिरन्वति पाणिभिर्नीललोहितम् ॥७॥

भक्तेभेदान्तरमाह—त्रिविधेति । निरूढा अनादिसिद्धा । ननु तस्याः शक्तिः किं वैलक्षण्यं मतं कोशादिष्वपि निरूढशक्तिनिवेशो दृश्यत इति चेदुच्यते—'स्वान्तं हन्मानस मनः' इत्यादौ शरीरावयवरूपमुख्यार्थबाधात् 'हृत्प्रतिष्ठम्' इति श्रुत्युक्ताधाराधेयभावादिसम्बन्धाच्च वैलक्षण्यमिति द्रष्टव्यम् । यस्य तु स्वान्तादिशब्दस्य मुख्योऽर्थो न प्रसिद्धस्तत्र तु शक्तिरेवेति दिक् । फलान्विता आधुनिकी प्रयोजनप्रतिपत्तये स्वीकृतेत्यर्थः । उदाहरणमाह—वाग्भिरिति । वाक्शब्दोऽत्र शब्दोच्चारणहेतुभूतेन्द्रियस्य वाचकः, तज्जन्यत्वाच्छब्दे लाक्षणिकः । पाणिभिरिति । पाणिशब्दः पूजादिसाधनभूतप्रियस्य

मुख्यतया वाचकः, तदधिष्ठते हस्तरूपे शरीरावयवे लाक्षणिकः । पूर्वत्र जहल्लक्षणा, शब्दानामेव स्तुत्यन्वयात् । उत्तरत्र च निरूढा जहल्लक्षणा प्रियतदधिष्ठात्रोरन्वयात्, मुख्यार्थपरित्यागेनाधिकारार्थस्वीकारात् । नीललोहितमिति शिवविशेषणं वामनोक्तन्यात् । तत्र नीललोहितशब्दे निरूढा जहल्लक्षणा भागत्यागसद्भावात् । जटिलं शिवमिति पाठः । उभयत्रापि निरूढा जहल्लक्षणा द्रष्टव्या । वाग्भिः पठित्वा स्तुवन्ति, पाणिभिरंगुल्यग्रैर्गृहीत्वाऽर्चन्तीति प्रयोगे तु शक्तिरेव, मुख्यार्थबाधाभावात् । एवञ्च क्षुरादिशब्दानामधिष्ठाने, गुणादिशब्दानां तत्कार्येषु प्रियादिषु आत्मादिशब्दानां तदुपलब्धियोग्येष्वन्तःकरणादिष्वियमेव लक्षणा द्रष्टव्या ॥७॥

द्वितीय कारिका में लक्षणा के त्रैविध्य की चर्चा की गई है । यह त्रिविधा लक्षणा पुनः दो प्रकार की होती है । 'निरूढा लक्षणा तथा' फलवती अर्थात् प्रयोजनवती लक्षणा । 'स्तुवन्ति वाग्भिः' इस वाक्य में 'वाक्' शब्द वाग् इन्द्रिय में उत्पन्न होने वाले स्तुति वचनों का लक्षणा द्वारा बोधक है । इस प्रकार के प्रयोग परम्परा में सुविदित हैं, अतः प्रयोजन के बिना भी ऐसे प्रयोग कर लिए जाते हैं । अतः इस प्रकार के प्रयोगों को निरूढा लक्षणा का उदाहरण माना जाएगा । 'अर्चन्ती पाणिभिः नीललोहितम्' [शिव की पाणि से पूजा करते हैं] वाक्य में पाणि शब्द अङ्गुली पर्यन्त बाहु का वाचक है । किन्तु अर्चना केवल हस्तरूप अग्र भाग से ही की जाती है अतः हस्तरूप शरीर अवयव की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है । 'पाणि' शब्द का प्रयोग भी हस्तावयव के लिए प्रयोग परम्परा में शक्ति के अभाव में भी बहु प्रचलित है, अतः प्रयोजन के बिना ऐसे प्रयोग कर लिए जाते हैं । प्रथम उदाहरण में शरीर के अवयव वाक् का त्याग कर दिया जाता है, अतः वहाँ जहती निरूढा लक्षणा है । द्वितीय वाक्य में पाणि शब्द में अजहती लक्षणा है । यहीं 'नीललोहितम्' पद में उभयी लक्षण है ॥७॥

प्रासादाः सन्ति रेवायां यष्टयः प्रविशन्ति यत् ।

प्रदोषे जनसम्बाधे शम्भवाम्भः क्षिपन्ति च ॥८॥

फललक्षणा मुदाहरति—प्रासादा इति । रेवायामिति पूर्ववज्जहल्लक्षणा ।

तत्फलं तु पूजासौकर्यप्रतीतिः । यष्टय इति । यष्टिशब्देन यष्टिधरेषु जहल्लक्षणा । तत्फलं तु गाढसम्मर्दप्रतीतिः । तेन च स्थलमहिमातिशयप्रतीतिस्ततश्च सेव्यत्वप्रतीतिरिति च । शम्भाविति । शम्भुशब्देन जलक्षेपाधिष्ठानभूते लिङ्गकदेशमात्रे जहदजहल्लक्षणा । तत्फलं चोक्तमेव ॥८॥

‘प्रासादाः सन्ति रेवायाम्’ इस वाक्यांश में प्रवाह-वाचक ‘रेवा’ पद से लक्षणा के द्वारा रेवा तट अर्थ की प्रतीति होती है, जिसका प्रयोजन पूजा के सौकर्य, स्थलमहिमा के अतिशय की प्रतीति और उससे अवश्य सेव्यत्व की प्रतीति होती है । ‘प्रदोषे जन सम्बाधे यष्टः प्रविशन्ति यत्’ [प्रदोष के समय भीड़-भाड़ के बीच दण्डी अर्थात् ‘दण्डधारी शिवभक्त’ प्रवेश करते हैं] वाक्य में यष्टि शब्द से यष्टिधरों की बहुलता की प्रतीति होती है । ‘शम्भौ अम्भः क्षिपन्ती च’ [शम्भु पर जल चढ़ाते हैं] वाक्यांश में शम्भु पद से शरीर का एक देश लिङ्ग अर्थ की प्रतीति जहत्-अजहत् लक्षणा द्वारा होती है । इस लक्षणा का प्रयोजन पूज्यत्व अतिशय की प्रतीति है । उपर्युक्त तीनों ही उदाहरणों में लक्षणा का फल अर्थात् प्रयोजन अगूढ नहीं है ॥८॥

यः श्रुत्योः कुण्डले धत्ते यच्छ्रुती चक्षुषोः स्थिते ।

तन्नागभूषणं वन्दे देवदेवं हृदि स्थितम् ॥९॥

गूढव्यङ्ग्यामुदाहृत्यागूढव्यङ्ग्यामुदाहरति—यः श्रुत्योरिति । श्रुति-शब्देन कर्णाधोभागे जहल्लक्षणा । तत्फलं तु सच्छिद्रतया धारणक्षमत्व-प्रतीतिः । तच्चागूढं झटिति प्रतीतेः । ययोः कुण्डलयोः श्रुती यच्छ्रुती श्रोत्रेन्द्रियमित्यर्थः । चक्षुषोश्चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठितगोलकयोः स्थितेन चक्षुशब्देन तदधिष्ठाने जहल्लक्षणा । तत्फलं तु चक्षुःश्रोत्रयोः सामानाधिकरण्यप्रतीतिः । तच्च पूर्ववत् सर्वेषां चक्षुःश्रवत्वादिति भावः । नागभूषणशब्देन नागाधिष्ठिता-वयवमात्रे जहदजहल्लक्षणा । तत्फलं त्वलौकिकस्वभावत्वावगतिः । तच्च प्राग्वत् । देवदेवमित्यत्र द्वितीयदेवशब्देन तत्सदृशे लक्षणा । सा चार्थान्तर-संक्रमितवाच्यस्य ध्वनेर्मूलम् । हृदि स्थितमिति । हृच्छब्देन मनसि लक्षणा ।

सा चात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य ध्वनेर्गूलमिति प्रसङ्गादुदाहरणे प्रदर्शिते । निरुद्धापि फलवती स्याद्विवक्षावशादिति चोक्तं भवति । हृदि स्थितमित्यत्र सान्निध्यप्रतीतिरूपफलस्य विवक्षितत्वादिति ॥९॥

‘यः श्रुत्योः कुण्डले धत्ते’ वाक्य में श्रुति शब्द लक्षणा द्वारा कान के निम्न भाग का बोधक है । इसका प्रयोजन उक्त भाग में छिद्र होना और कुण्डल धारण करने को क्षमता की प्रतीति है । ‘यत् श्रुतिः चक्षुषोः स्थिते’ [जिसके श्रोत्र नेत्रों में स्थित हैं] वाक्य में चक्षु शब्द से चक्षु इन्द्रिय के आधार भूत गोलकों की लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है । इस प्रयोग का प्रयोजन चक्षु और श्रोत्र में सामानाधिकरण्य की प्रतीति है । क्योंकि नाग की श्रोत्र-इन्द्रिय चक्षु गोलक में ही स्थित रहती है । [इसीलिए उसे चक्षुश्रुवा भी कहते हैं ।] ‘तमं नागभूषणं वन्दे’ [नागभूषण उन शिव को प्रणाम है] वाक्य में नाग-भूषण शब्द से नाग अधिष्ठित अवयव अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है । इस लाक्षणिक प्रयोग का फल वन्दनीय शिव के अलौकिक स्वभाव की प्रतीति है । ‘देवदेवं वन्दे हृदि स्थितम्’ वाक्य में देव शब्द से देव-सदृश अर्थ की लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है । यहाँ यह लक्षणा अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का मूल है । ‘हृदिस्थितम्’ वाक्यांश में ‘हृत्’ शब्द से लक्षणा द्वारा ‘मनस्’ अर्थ की प्रतीति होती है । यह लक्षणा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का मूल है । ‘हृत्’ शब्द का प्रयोग मन अर्थ में क्योंकि बहुधा होता है, अतः यहाँ निरुद्धा लक्षणा है, यह संदेह हो सकता है । किन्तु यहाँ सान्निध्यप्रतीतिरूप फल की विवक्षा होने के कारण निरुद्धा लक्षणा की संभावना होते हुए भी फलवती लक्षणा मानी जाएगी ॥९॥

निरुद्धा भक्तिरफला गूढागूढफलाऽपरा ।

क्रमेण दर्शिताऽन्येऽपि भेदाः सन्ति ब्रवीमि तान् ॥१०॥

निरुद्धेति । अफला व्यङ्ग्यार्थ रहिता, परा फलवती गूढव्यङ्ग्या अगूढ-व्यङ्ग्या चेति । एवं व्यधिकरणपदविषया लक्षणा नवविधा । अन्यापि समाना-धिकरणविषया इत्यर्थाल्लभ्यते ॥१०॥

इस प्रकार पूर्वोक्त उदाहरणों में निरूढा लक्षणा, जिनमें कोई फल या प्रयोजन नहीं रहता, तथा प्रयोजनवती लक्षणा गूढ और अगूढ फलयुक्त लक्षणा के उदाहरण क्रमशः दिखाए गए हैं। लक्षणा के कुछ अन्य भेद भी होते हैं, जिनकी चर्चा अग्रिम कारिकाओं में की जा रही है ॥१०॥

सारोपा सा मता यत्र विषयी विषयान्वितः ।

ज्ञेया साध्यवसाना सा विषयी यत्र केवलः ॥११॥

सारोपेति । विषयी आरोप्यमाणः विषयस्त्वारोपगोचरः, तावुभावपि यत्र सामानाधिकरण्येन निर्दिष्टौ भवतः सा सारोपा, आरोप्यमाणेन सह वर्तमाना सारोपा, भेदे सत्यभेदकल्पनमारोपः । यत्र च विषयो न निर्दिश्यते तत्र साध्यवसाना, अध्यवसानेन सह वर्तमाना साध्यवसाना । अध्यवसानमाहार्य-निश्चयः । स तु भेदमनिर्दिश्याभेदकल्पनारूपः । ननु तत्त्वमसीति वाक्ये सारोपा साध्यवसाना वा ? नाद्यः, आरोपस्य मुखपङ्कजादिभिन्नपदार्थविषयत्वाज्जीव-परमात्मनोस्तात्त्रिकाभेदस्यारोपशब्दवाच्यत्वाभावाच्च । नापि द्वितीयः, विषय-विषयिणोरुभयोरपि निर्देशात्, विषयिमात्रनिर्देशस्य तत्राकाङ्क्षितत्वाच्च । अत्रोच्यते—यत्र सामानाधिकरणस्थले आरोपोऽध्यवसानं वा तत्रैव लक्षणेति न नियमः किन्तु प्रयोगप्रायादभेदकल्पनामात्रं, तेनारोपाध्यवसानयोरसंभवेऽपि भागत्यागलक्षणांमात्रं न निषिध्यते । ननु तर्हि सारोपसाध्यवसानयोर्यथार्थभे-दाद् भेदेऽप्यधिकभेदप्रसक्तिः स्यादिति चेन्न, छत्रिन्यायेन गौण्या वा यथार्थ-भेदस्यारोपत्वसंभवादिति दिक् । अत्र सम्बन्धत्रयविचारविशेषस्तु वेदान्तशास्त्रा-दवगन्तव्यः ॥११॥

उपर्युक्त लक्षणा सारोपा और साध्यवसाना भेद से दो प्रकार की हो सकती है । जहाँ विषय और विषयी दोनों का प्रयोग किया जाता है अर्थात् लक्षक शब्द के साथ ही साथ वाचक शब्द का भी प्रयोग होता है, वहाँ सारोपा लक्षणा होती है । जहाँ विषय का प्रयोग न होकर केवल विषयी [लक्षक पद] का ही प्रयोग होता है, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा समझनी चाहिए ॥११॥

कार्यकारणभावाद भेदौ शुद्धाविमौ स्मृतौ ।

सादृश्ये सति गौणी च शक्यलक्ष्यगुणाश्रयात् ॥१२॥

कार्येति । शुद्धाविति । साक्षात्सम्बन्धहेतुकावित्यर्थः । गौणी गुणहृता अमुख्यौ, परम्परासम्बन्धाश्रयत्वात् ॥१२॥

संबन्ध के आधार पर भी लक्षणा के दो भेद होते हैं । जहाँ सादृश्य के अतिरिक्त कार्यकारणभाव आदि सम्बन्ध लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराते हैं, वहाँ शुद्धा लक्षणा माना जाती है, और जहाँ शक्यार्थ [वाच्यार्थ] और लक्ष्यार्थ में गुणसाम्य के कारण लक्षणा होती है, वहाँ [सादृश्य संबन्ध होने पर] गौणी-लक्षणा कही जाती है । इसे गौणी इसलिए कहते हैं, क्योंकि यहाँ शक्य और लक्ष्य में गुण सम्बन्ध रहता है ॥१२॥

निरुद्धा शुद्धसारोपा शिवं शम्भुं भजेदिति ।

शिवं भजेदिति परा कार्यकारणभावतः ॥१३॥

निरुद्धेति । शिवं कल्याणकरं शम्भुविशेषणमेतत्, न तु तन्नामधेयं पुनरुक्त्यापत्तेः । रुद्रः शिव इति प्रसिद्धमेव शिवमित्यतिप्रसिद्धतया शम्भोरप्रयोगाद् विपर्ययमात्रनिर्देशः । यदि तु व्युत्पत्तिराश्रीयते तदा शिवशब्दः शुक्लादिशब्दवत् शक्तेरेवोदाहरणम् । अव्युत्पत्तिपक्षे तु लक्षणाया एवेति सिद्धान्तः । १३॥

शुद्धा और गौणी लक्षणा के उदाहरण निम्नलिखित रूप से द्रष्टव्य हैं । 'शिवं शम्भुं भजेत्' वाक्य में वाचक शम्भुपद और लक्षक शिव पद का प्रयोग होने से सारोपा लक्षणा है । यहाँ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है, इसलिए इसे शुद्धा-सारोपा कहा जाएगा । इसी वाक्य में से वाचक शम्भु पद हटा देने पर 'शिवं भजेत्' वाक्य शेष रहेगा । यहाँ विषय-वाचक पद का प्रयोग न होने के कारण 'साध्यवसाना शुद्धा-निरुद्धा-लक्षणा' मानी जाएगी ॥१३॥

स्त्रीरत्नं गिरिजा सैषा रत्नं संसारवारिधेः ।

निरुद्धा गौणसारोपाऽन्या च सादृश्ययोगतः ॥१४॥

स्त्रीरत्नमिति । स्त्री रत्नमिव मणिरिवेत्युपमितसमासे । 'रत्नं श्रेष्ठे मणावपि' इति वैजयन्ती । इत्युपमितसमासे रत्नसदृशी स्त्रीति शाब्दबोधाच्छक्तिरेव, न लक्षणा । स्त्री एव रत्नं स्त्रीरत्नमिति मयूरव्यंसकादिसमासे तु लक्षणैव । यद्यपि 'रत्नं श्रेष्ठे मणावपि' इति कोशात् सप्तमीतत्पुरुषोऽपि प्रतिभाति, तथापि समासात् पूर्वं श्रेष्ठवाचकत्वाभावेन स न भवति । तथोक्तमभिधानचिन्तामणौ—

स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः ।

सिंहशार्ङ्गलनागाद्यास्तत्त्वजश्च मतल्लिका ॥

मर्चचिका प्रकाण्डाद्याः प्रशस्यार्थप्रकाशकाः । [१३४९, ४१] इति ।

'प्रशंसावचनैश्च' [पा० अ० २।१।६६] इति सूत्रस्य मतल्लिकादिपञ्चकपरत्वाच्चोक्त एव समासो न्याय्य इति दिक् । वस्तुतस्तु स्त्रीरत्नमिति व्यस्तमेवोदाहरणम्, वैयाकरणमते वृत्तौ समुदायशक्तमाश्रित्य लक्षणाऽनङ्गीकारात् । सैषेति सामान्यनिर्देशः । सादृश्यसम्बन्धाद् गौणी ॥१४॥

'स्त्री रत्नं गिरिजा' वाक्य में 'स्त्री रत्न' पद लक्षणा द्वारा स्त्रियों में श्रेष्ठ अर्थ की लक्षणा द्वारा प्रतीति कराता है । यहाँ वाचक [विषय] पद 'गिरिजा' का प्रयोग होने से सारोपा-लक्षणा मानी जाती है । क्योंकि यहाँ स्त्री और रत्न में श्रेष्ठतारूप गुण की समानता है, अतः इसे गौणी भी कहा जाता है । प्रयोग परम्परा में अति प्रसिद्धि के कारण यह लक्षणा निरुद्धा कही जा सकती है । इस प्रकार उपर्युक्त वाक्य में गौणी-सारोपा-निरुद्धा-लक्षणा है । 'एषा रत्नं संसारवारिधेः' [यह संसाररूपी समुद्र की रत्न है] वाक्य में 'रत्न' पद से 'स्त्रीरत्न' अर्थ की प्रतीति होती है । यहाँ विषय-वाचक 'स्त्रीपद' का प्रयोग न होने के कारण इसे साध्यवसाना गौणी-निरुद्धा-लक्षणा कहा जाएगा ॥१४॥

मुक्तिः शिवस्य पूजैव हे मुक्ते मा जहीहि माम् ।

फलिनी शुद्धसारोपाऽन्या च बीजफलत्वतः ॥१५॥

मुक्तिरिति । मुक्तिः कारणमित्यर्थः । लक्षणाफलं तु मुख्यसाधनता-

प्रतीतिरादरातिशयप्रतीतिश्च । बीजं कारणं, फलं च कार्यं तत्सम्बन्धत्वात्
॥१५॥

मुवितः शिवस्य पूजैव' वाक्य में शिव पूजा की कार्य [फल] मुक्ति है । अतः कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध के कारण मुक्ति शब्द से पूजा अर्थ की लक्षणा द्वारा प्रतीति होकर एकवाक्यता होगी । यहाँ लक्षणा का प्रयोजन मुख्यसाधनताप्रतीति है । यहाँ प्रयोजनवती होने के कारण फलवती, कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध युक्त होने के कारण शुद्धा, विषय और विषयी दोनों का प्रयोग होने के कारण सारोपा लक्षणा है । विषय का प्रयोग न होने पर 'मुवते मा जहीहि माम्' वाक्य में प्रयोजनवती-शुद्धा-साध्यवसाना-लक्षणा होगी ॥१५॥

शिवपूजा मम प्राणाः, हे प्राणाः विरताः स्थ मा ।

फलिनी गौणसारोपा परा च सदृशत्वतः ॥१६॥

शिवपूजेति । अत्र लक्षणाफलं तु महिमातिशयप्रतीतिरादरातिशय-प्रतीतिश्च । विरताः विरामं प्राप्ताः । मा स्थ मा भवत, चेतनं मे जीवितं स्याद् अन्यथा तु स्वसनं न जीवितमिति भावः । १६॥

'शिव पूजा मम प्राणाः' इत्यादि वाक्य में प्राण शब्द से लक्षणा द्वारा शिवपूजा अर्थ की प्रतीति होती है । शिवपूजा को प्राण-पद से लक्षणा द्वारा कहने का प्रयोजन प्राणों के सदृश शिव-पूजा की महिमा और उसके प्रति अतिशय प्रीति की प्रतीति होती है । यहाँ शिव-पूजा और प्राण में विद्यमान आदरणीयतरूप गुण-सम्बन्ध के कारण लक्षणा होती है, इसलिए इसे गौणी-लक्षणा कहा जाएगा । विषय शिव-पूजा और विषयी-प्राण दोनों का प्रयोग होने से यहाँ गौणी-सारोपा-लक्षणा है । 'हे प्राणाः विरताः मा स्थ' वाक्य में शिव-पूजा के लिए 'प्राणाः' का प्रयोग हुआ है, किन्तु विषय-शिव-पूजा का ग्रहण नहीं किया गया है, अतः यहाँ साध्यवसाना-प्रयोजनवती गौणी लक्षणा मानी जाएगी । १६॥

सम्बन्धान्तरतो भेदाः स्वयमूह्याः परेऽपि च ।

अक्षो रुद्राय रुढो हि गृहाः शम्भोश्च पार्वती ॥१७॥

तादर्थ्यादिह ताच्छब्दय' तात्स्थ्यात्ताच्छब्दमित्यपि ।

रुद्रस्य सेवका रुद्राः सेव्यसेवकभावतः ॥१८॥

सम्बन्धान्तरत इति । कार्यकारणभावादावित्यत्रादिशब्दात् सामान्य-विशेषभावादिसम्बन्धविशेषनिमित्तका भेदाः स्वबुद्ध्या विविच्य विज्ञेया इत्यर्थः । दिङ्मात्रं चोदाह्रियते—अक्ष इति । रुद्राय रुद्रसेवनाय हेतुहेतुमद्भावोऽत्र सम्बन्धः, रुद्रसेवनस्य तद्वारकपुरुषजन्यत्वात् । कार्यकारणभावादस्य भेदः । इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्र इति प्रसिद्धोदाहरणेऽप्येवमेव । गृहा इति । अत्राधाराधेयभावः सम्बन्धः । पूर्वत्र तादर्थ्यात्ताच्छब्दम्, इह तु तात्स्थ्यात्तत्र स्थितत्वात् । रुद्रस्येति । सेवका याज्ञका इत्यर्थः । 'नारुद्रो रुद्रमर्चयेत्' इति स्मृतेः ॥१७-१८॥

कार्य कारण भाव आदि सम्बन्धों के कारण होने वाली लक्षणा के उदाहरण स्वयं देख लेने चाहिए । फिर भी कुछ उदाहरण अग्रिम पंक्तियों में प्रस्तुत हैं—'अक्ष' शब्द से लक्षणा द्वारा रुद्र अर्थ की प्रतीति होती है । यहाँ 'अक्ष' और 'रुद्र' में हेतु-हेतुमद्भाव सम्बन्ध है । क्योंकि 'अक्ष' को धारण करने वाला व्यक्ति ही रुद्र का सेवन करता है । 'गृहाः शम्भोश्च पार्वती' वाक्य में 'पार्वती' के लिए 'गृहाः' शब्द का प्रयोग किया गया है । यहाँ लक्षणा का हेतु आधाराधेय भाव सम्बन्ध है ॥१७॥

उपयुक्त दोनों उदाहरणों में से प्रथम में तादर्थ्य सम्बन्ध के कारण लक्षणा का प्रयोग हुआ है, और द्वितीय वाक्य में तात्स्थ्य [आधाराधेय भाव] सम्बन्ध के कारण लक्षणा का प्रयोग हुआ है । रुद्र के सेवक के लिए भी लक्षणा की सहायता से रुद्र शब्द का प्रयोग होता है, और वहाँ सेव्य-सेवक-भाव लक्षणा का मूल माना जाएगा ॥१८॥

आधाराधेयभावेन प्रसादो रुद्र इज्यते ।

तद्वाच्यवाचकत्वेन भवेत्तलक्षितलक्षणा ॥१६॥

आधारेति । तस्य पूज्यत्वे, उपदेशादिति भावः । पूर्वत्र आधारवाचिलक्षकः, इह त्वाधेयवाचिलक्षक इति भेदः । तद्वाच्यवाचकत्व इति । तस्य द्व्यक्षरादेर्वाच्यो मांसादिशब्दः, स वाचको यस्य स तद्वाचक आमिषादिस्तस्य भावस्तत्त्वं तेन । तथोक्तेन लक्षिते लक्षीकृते लक्षणा लक्षितलक्षणेत्यन्वर्थाभिधानेयम् ॥१६॥

शिव मन्दिर [प्रासाद] के लिए भी शिव [रुद्र] पद का प्रयोग होता है और वहाँ इस लाक्षणिक पद का हेतु आधाराधेय-भाव सम्बन्ध होता है । कभी कभी वाच्यवाचक भावसम्बन्ध के कारण भी वाचकगत वैशिष्ट्य का प्रयोग करते हुए लक्षितलक्षणा द्वारा अर्थ की प्रतीति कराई जाती है ॥१६॥

गुञ्जद्विरेफैः पुष्पौघैः पूज्यो भक्तैः शिवो यथा ।

द्व्यक्षरं मांसमित्यादौ निरुद्धेष्वेव नान्यतः ॥२०॥

एषा निरुद्धेष्वेव संभवतीति स्फुटयितुं पुनरुदाहरति—गुञ्जद्विरेफैरिति । द्विरेफशब्दो हि योगरूढतया भ्रमरशब्दवाची । तस्य द्विरेफशब्दस्य षट्पदे लक्षितलक्षणा ॥२०॥

‘गुञ्जद्विरेफैः पुष्पौघैः’ वाक्य में ‘द्विरेफ’ शब्द से भ्रमर शब्द की प्रतीति होकर भ्रमर अर्थ की प्रतीति होती है । इसीप्रकार द्व्यक्षर आदि पदों से मांस आदि अर्थ की प्रतीति होती है । यहाँ लक्षित लक्षणा मानी जाती है, यह लक्षणा निरुद्धा ही होती है, प्रयोजन वती नहीं ॥२०॥

विरुद्धा व्यतिरेके च लक्षणोक्ता मनीषिभिः ।

इस साधुकृतं तेन शम्भुर्येन न पूजितः ॥२१॥

विरुद्धेति । व्यतिरेके वैपरीत्ये साधुकृतं साधुशब्देन तद्विपरीते लक्षणा, व्यतिरेकलक्षणामपीमां वदन्ति । फलवती चेयं न निरुद्धा ॥२१॥

‘वैपरीत्य’ सम्बन्ध के कारण विपरीत लक्षणा भी आचार्यगण स्वीकार करते हैं। यथा—‘इह साधु कृतम् तेन शम्भुः येन न पूजितः’ [जिसने शम्भु की पूजा नहीं की उसने अच्छा किया] वाक्य में विपरीत लक्षणा से साधु पद द्वारा असाधु [अनुचित] अर्थ की प्रतीति होती है ॥२१॥

सम्बन्धबुद्धिजनकः सम्बन्धो विविधो मतः ।

शब्दप्रमाणगा वृत्तिर्लक्षणा तन्निबन्धना ॥२२॥

सम्बन्धं लक्षयति—सम्बन्धेति । ‘इमौ सम्बद्धौ’ बुद्धेहेतुः सम्बन्ध इति लक्षणं शब्दरूपं यत्प्रमाणं प्रमाणकरणम्, करणे च व्यापारावश्यभावात्तद्वत्ता वृत्तिर्लक्षणा सम्बन्धमूलैव न तु सम्बन्ध एव लक्षणेति भावः ॥२२॥

वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच सम्बन्धबुद्धि को उत्पन्न करने वाला सम्बन्ध अनेक प्रकार का होता है। इस सम्बन्ध के आधार पर ही लक्षणा व्यापार प्रवृत्त होता है और उस व्यापार से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। अतः सम्बन्ध को लक्षणा न मानकर उस सम्बन्ध को हेतु मानकर शब्द में लक्षणा व्यापार माना जाता है ॥२२॥

स नित्यः समवायाख्यः सहजोऽवयवादिषु ।

गुणः क्रिया च सामान्यं विशेषोऽवयवादयः ॥२३॥

स इति । अवयवादिष्ववयुतसिद्धेषु । तल्लक्षणं चोक्तं तर्कशास्त्रे—

तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः ।

अनश्यद् एकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥ इति ।

अन्यच्च अवयवावयविनोर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्जातिव्यक्त्योर्यः सम्बन्धः सः समवाय इति । गुण इति । अवयवादयः पञ्च तद्वत्सु समवाय-सम्बन्धेन लाक्षणिका इत्यर्थः ॥२३॥

यह लक्षणा-व्यापार शब्द में उसी प्रकार समवाय सम्बन्ध से नित्य रहता है, जिस प्रकार अवयव में अवयवी रहता है, अथवा द्रव्य में गुण, क्रिया,

सामान्य (जाति) अथवा विशेष रहा करते हैं। जिन शब्दों में समवाय सम्बन्ध से लक्षणा विद्यमान प्रतीत होती है, उन शब्दों को लाक्षणिक शब्द कहा जाता है। अथवा लक्षणा के मूल में जिन सम्बन्धों की चर्चा की गई है, उन सम्बन्धों में से समवाय सम्बन्ध नित्य सम्बन्ध है। यह अवयव अवयवी गुण और द्रव्य क्रिया और द्रव्य सामान्य [जाति] और जातिमान् तथा विशेष और विशिष्ट [नित्यद्रव्यों] में रहा करता है ॥२३॥

संयोगो युक्तधीहेतुर्द्रव्ययोः क्रियया कृतः ।

विशिष्टबुद्धिजनकः स्वस्वामित्वादिकोऽपरः ॥२४॥

संयोग इति । 'इमौ संयुक्तौ' इति बुद्धेर्हेतुगुणः, स द्रव्ययोरेव नान्येषाम्, क्रियया कृतो न तु स्वाभाविकः । विशिष्ट इति । अयमनेन विशिष्ट इति बुद्धिजनकः, अपरोऽन्यः ॥२४॥

संयोग सम्बन्ध क्रिया द्वारा उत्पन्न वह सम्बन्ध है, जिसके कारण दो द्रव्य मिले हुए हैं, इस प्रकार का बोध होता है। 'स्वस्वामि-भाव-सम्बन्ध' भी 'स्व' [सेवक] में स्वामी के सम्बन्ध से विशिष्ट बुद्धि को उत्पन्न करने वाला सम्बन्ध है ॥२४॥

व्यतिरेकोऽपि सम्बन्धो विपरीतमतिप्रदः ।

सादृश्यमपि सम्बन्धस्तथा तद्वाच्यवाच्यता ॥२५॥

व्यतिरेकोऽपीति । असौ विरुद्धयोरेव । सादृश्यमिति । अयं तुल्ययोरेव । तद्वाच्येति । तस्य प्रकृतस्य वाच्यः शब्दविशेषस्तस्य वाच्यताऽभिधेयता । अयं पूर्वोक्तप्रकारान्नातिरिच्यते, समासमात्रभेदेऽयर्थभेदाभावात् ॥२५॥

व्यतिरेक सम्बन्ध वह सम्बन्ध है, जिससे दो अर्थों में विपरीत [विरुद्ध] बुद्धि उत्पन्न होती है। दो तुल्य वस्तुओं में रहने वाला सम्बन्ध सादृश्य सम्बन्ध कहलाता है। किसी वस्तु के वाचक शब्द और वाच्य वस्तु में वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध रहा करता है ॥२५॥

एतेषां लक्षणीयेऽर्थे सम्भवस्तर्क्यतां स्वयम् ।

मुख्यस्यार्थस्य यद्धेतोर्लक्षणां शब्दमाश्रयेत् ॥२६॥

एतेषामिति । उक्तसम्बन्धानां संभवः स्वयं तर्क्यताम् औचित्येन विभाव्यतामित्यर्थः । यद्धेतोर्यस्मात् सम्बन्धाद्धेतोः ॥२६॥

मुख्य अर्थ से लक्ष्य अर्थ के बीच इस प्रकार के विविध संबन्धों की कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिए । जिनकी सहायता से शब्द लक्षणा व्यापार का आश्रयण करता है ॥२६॥

सारोपायां गुणाः लक्ष्या विषयिणो न तच्छ्रुतेः ।

एवं साध्यवसानायां गुणी लक्ष्यो गुणान्वितः ॥२७॥

सारोपायां साध्यवसानायाञ्च विशेषमाह—सारोपायमिति । मुखं चन्द्र इत्यादौ गुणा आल्लादकत्वादयो न तु विषयिणः शीतलकरणमृगाङ्कत्वादयः, तद्वाचकपदश्रवणात् । साध्यवसानायाञ्च चन्द्रोऽयमित्यादौ तु गुणैः सहितो विषयो लक्ष्यः, तद्वाचकपदस्याश्रवणात् ॥२७॥

सारोपा लक्षणा में 'मुखं चन्द्र' इत्यादि उदाहरणों में लक्षणा द्वारा गुणों की प्रतीति होती है । 'चन्द्र' वाचक पद का प्रयोग होने के कारण चन्द्रमा की प्रतीति होती हो, ऐसी बात नहीं । जब कि साध्यवसाना लक्षणा में गुणों के साथ-साथ गुणविशिष्ट गुणी की भी लक्षणा द्वारा प्रतीति होनी है ॥२७॥

सारोपायां तु भेदेन गुणा लक्ष्या द्वयोरपि ।

अन्यस्यां गुणिभेदेन गुणा एवाभिदाजुषः ॥२८॥

सारोपायामिति । मुखं चन्द्र इत्यादौ आल्लादकत्वादोऽभेदेन लक्ष्याः, अभेदस्य विवक्षाधीनत्वात् चन्द्रोऽयमित्यादौ तु विषयस्यापि गुणैः सहितस्याभेदेन लक्षणीयत्वं बोध्यम्, अन्यथा विरम्य लक्षणाया अप्रवृत्तेरिति भावः ॥२८॥

सारोपा-लक्षणा में क्योंकि विषय और विषयी की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है, अतः दोनों के गुणों की 'सदृश गुणों' की लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है। जबकि साध्यवसाना में विषय और विषयी में भेद प्रतीति न होने के कारण गुणों से अभिन्न गुणी की प्रतीति होती है ॥२८॥

रूपकादिषु सारोपा यत्र शब्दावुभावपि ।

रूपकातिशयोक्त्यादौ पराऽऽरोप्यपदश्रुतेः ॥२९॥

अनयोर्विषयविभागमाह—रूपकेति । आदिशब्दान्निदर्शनादयो गृह्यन्ते । रूपकेति । आदिशब्दादप्रस्तुतप्रशंसादयो गृह्यन्ते । आरोपपदस्य विषयिवाचक-मात्रस्य श्रवणमित्यपरा साध्यवसाना ॥२९॥

रूपक आदि अलंकारों में सारोपा लक्षणा कही जा सकती है, जहाँ विषय और विषयी दोनों के वाचक शब्दों का प्रयोग होता है। इसके विपरीत रूपकातिशयोक्ति आदि में केवल विषयी-वाचक पद का ही प्रयोग होता है, अतः वहाँ साध्यवसाना लक्षणा की स्थिति मानी जा सकती है ॥२९॥

सादृश्यश्लथताभावः सारोपायाः फलं मतम् ।

सादृश्यातिशयोऽन्यस्या विषयस्तुतिहेतवे ॥३०॥

सादृश्येति । फलवत्याः सारोपायाः सादृश्यश्लथताया अभावः फलव्यङ्ग्यार्थरूपं प्रयोजनम् । अन्यस्यास्तु विषयस्तुतिहेतवे विषयगुणप्रशंसार्थ-मित्यर्थः । विषयगुणानामपकृष्टत्वं विषयिगुणानां चोत्कृष्टत्वमित्यालङ्कारिक-सिद्धान्तः । अभेदारोपे चापकृष्टानामप्युत्कृष्टत्वमथसिद्धमिति । तत्र वीजं तु लक्षणाव्यङ्ग्यः सादृश्यातिशय इति भावः । सादृश्यं ह्यदृष्टमुपमादिषु, दृष्टं च रूपकादिषु, दृष्टतरमतिशयोक्त्यादिषु । यत्र च विषयस्याल्पा प्रशंसा तत्र दृष्टम् यत्राधिका सा तत्र दृष्टतरमिति विवेकः ॥३०॥

सारोपा-लक्षणा में जहाँ विषय और विषयी दोनों का प्रयोग होता है, अभेद प्रतीति के फलस्वरूप सादृश्य प्रतीति में शिथिलता के अभाव का बोध

होता है और यही सारोपा-लक्षणा की देन है । साध्यवसाना लक्षणा में विषय के उत्कर्ष की प्रतीति के लिए सादृश्यातिशय का बोध होता है और यह साध्यवसाना लक्षण का फल है । इस प्रकार उपमा आदि में सादृश्य अदृढ़ होता है, रूपक आदि में दृढ़ और अतिशयोक्ति आदि में दृढतर ।

ताद्रूप्याभेदयोराहुः फलत्वमुभयोः क्रमात् ।

तत्तु शब्दान्तराललाभाद्विशोधाच्च न मन्यनाम् ॥३१॥

ताद्रूप्येति । अत्र केचित्—ताद्रूप्यप्रतीतिः सारोपाया अभेदप्रतीतिश्च साध्यवसानायाः फलमिति विभिन्नमाहुः । तत्तु न मन्तव्यम् 'साध्वीयमपरा लक्ष्मीः' इत्यादावपरादिशब्दस्य ताद्रूप्यप्रत्यायकत्वात्, 'अयं हि धुर्जटिः साक्षात्' इत्यादौ साक्षाच्छब्दादेरभेदप्रत्यायकत्वाच्चेति भावः । किञ्चाभेदरूपके च सारोपायां फलद्वयस्यापि सम्भवात्, द्विविधातिशयोक्तौ च साध्यवसानायां तथैव सम्भवाच्च, प्रत्येकं फलत्वकल्पनायोगादिति भावः ॥३१॥

कुछ आचार्य सारोपा लक्षणा का फल ताद्रूप्य प्रतीति और साध्यवसानालक्षणा का फल अभेद प्रतीति मानते हैं, किन्तु वह उचित नहीं है । क्योंकि 'साध्वीयम् अपरा लक्ष्मीः' इत्यादि सारोपा स्थलों में अपरा आदि पद ताद्रूप्य की प्रतीति के लिए तथा 'अयं ही धुर्जटिः साक्षात्' इत्यादि साध्यवसाना स्थलों में साक्षात् इत्यादि पद अभेद के प्रत्यायक निबद्ध हैं । उक्त फल मानने पर इन पदों के प्रयोग से विरोध उपस्थित होगा ॥३१॥

सर्वनामविशिष्टस्य निर्देशे प्रथमा मता ।

अविशिष्टस्य निर्देशे परेति कवयो विदुः ॥३२॥

इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारावारीणधुरीणरामजिभट्टविरचिते
कोविदानन्दे भक्तिनिर्णये द्वितीयः परिच्छेदः ॥

सर्वनामेति । 'इदं चन्द्रः' इत्यादौ मुखत्वादिविशेषविशिष्टवस्तुपरेण इदंशब्दादिना निर्देशे सारोपा । अयं चन्द्र इत्यादौ मुखत्वादिविशेषपरिहारेण

सामान्यरूपेणारोप्यमाणचन्द्राद्यभेदेन निर्देशे साध्यवसाना इति भेदः । अत्र जहत्यादिविचारस्तु विस्तरभयान्न कृतः ॥३२॥

इति श्रीपदवाक्यप्रमाणझरामजिभट्टात्मजाशाधरभट्टविरचितायां कादम्बिनीसमाख्यायां स्वकृतकोविदानन्दव्याख्यायां लक्षणापरिच्छेदो द्वितीयः ॥

‘इदं’ आदि सर्वनाम विशिष्ट ‘इदं चन्द्रः’ इत्यादि वाक्यों में सारोपा-लक्षणा मानी जाती है । क्योंकि यहाँ ‘इदं’ आदि पदों द्वारा आरोप विषय का निर्देश होता है । इसके विपरीत ‘अयं चन्द्रः’ इत्यादि स्थलों में जहाँ ‘अदस्’ शब्द ‘चन्द्र’ के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हो रहा है, वहाँ सर्वनाम पद से आरोप-विषय का बोध न होने के कारण साध्यवसाना-लक्षणा मानी जाती है, सारोपा नहीं ॥३२॥

व्याकरण, मीमांसा न्याय शास्त्र एवं योग के पारंगत विद्वान् पं० रविनाथ अवस्थी के पुत्र महामहोपाध्याय डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी विरचित कोविदानन्द दीपिका में भक्तिनिर्णय नामक द्वितीय परिच्छेद पूर्ण हुआ ।

अथ व्यञ्जनानिरूपणम्

संकेतशक्यसम्बन्धविभिन्नसहकारिणी ।

वाच्यलक्ष्यातिरिक्तार्थधीहेतुवृत्तिरञ्जना ॥१॥

व्यञ्जनायाः लक्षणमाह—संकेतेति । संकेतशक्यसम्बन्धाभ्यामभिधा-
लक्षणसहकारिभ्यां विभिन्ना अतिरिक्ता वक्ष्यमाणरूपाः सहकारिणो यस्याः सा ।
किञ्च, वाच्यलक्ष्याभ्यां शक्तिभक्तिप्रतिपाद्याभ्यामतिरिक्तस्य व्यङ्ग्यार्थस्य
हेतुः बोधकारणम् अञ्जना व्यञ्जना ॥१॥

संकेत शक्ति अर्थात् अभिधा एवं सम्बन्ध अर्थात् लक्षणा वृत्ति से भिन्न
अर्थबोध में सहकारिणीवृत्ति अंजना अथवा व्यंजना कही जाती है । इसके
द्वारा प्रतीत होने वाला अर्थ वाच्य एवं लक्ष्य अर्थ से भिन्न व्यंग्य अर्थ कहा
जाता है ॥१॥

अस्त्रमन्त्रितबाणस्य वृत्तिवद् विविधार्थकृत् ।

एषा शब्दगतैवार्थानाश्रित्यापि प्रवर्तते ॥२॥

वृत्तिद्वयाद्विलक्षणमाह—अस्त्रेति । अस्त्रेण वायव्यादिना मन्त्रितस्य
कृताभिमन्त्रस्य बाणस्य वृत्तिवद् विविधार्थकृद् अनेकार्थबोधनपटुः, युगपदिति
शेषः । एषा व्यञ्जना शब्दगतेव, किन्त्वर्थात् वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यानाश्रित्या-
पीत्यर्थः ॥२॥

जिस प्रकार वायव्यास्त्र आदि मंत्रों से अभिमन्त्रित बाण विविध प्रयोजन
सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार अंजना वृत्ति से युक्त शब्द भी अनेक अर्थों का बोध
कराते हैं । यह वृत्ति भी शब्दगत वृत्ति है । कभी-कभी यह अर्थों का आश्रयण
करके भी प्रवृत्त होती है ॥२॥

अस्याः कारणां शब्दा भजन्त्यर्थास्तथोभये ।

वक्तृवाक्यादिवैशिष्ट्यं सहकारिनिरूपितम् ॥३॥

अस्या इति । कारणां मूलताम् तेनैषा त्रिविधेत्यर्थः ॥३॥

व्यञ्जना वृत्ति के कारण कभी शब्द होते हैं, कभी अर्थ और कभी शब्द और अर्थ दोनों । वक्तृवैशिष्ट्य, वाक्यवैशिष्ट्य, बोधव्यवैशिष्ट्य [श्रोतृ वैशिष्ट्य] आदि व्यञ्जना के सहकारी कारण हैं ॥३॥

एतत् पदं तदंशं च वाक्यबन्धं च संश्रिता ।

प्राधान्याद् व्यञ्जनावृत्तिः शब्दधर्मोऽर्थगापि सा ॥४॥

शब्दशक्तिसूत्राया भेदानाह—वर्णमिति । तदंशं प्रकृतिप्रत्ययादिकं बन्धं वृत्तादिकम् ॥४॥

शब्दी-व्यञ्जना कहीं वर्ण में, कहीं पद में, कहीं पदांश में और कहीं वाक्यार्थ में प्रधानरूप से आश्रित रहती है । मुख्यतः यह शब्द का धर्म है । और आर्थी व्यञ्जना— ॥४॥

देशकालप्रकरणवक्तृवाक्याभिधेयकाः ।

सान्निध्यकाकुबोद्धव्या व्यञ्जनासहकारिणः ॥५॥

अथशक्तिसूत्रायाः सहायानाह—देशोक्त । काकुः स्त्रियां विकारोयः शोकभात्यादिभिर्ध्वनेः । इत्यमरः ॥५॥

[आर्थी व्यञ्जना] देश, काल, प्रकरण, वक्ता, वाक्य, श्रोता, सान्निध्य और काकु इत्यादिकी सहायता से प्रगट होती है ॥५॥

पञ्चाननो विजयते हिमवद्भूविहारकृत् ।

अत्र व्यञ्जनयान्योऽर्थस्तत्साम्यं वा प्रतीयते ॥६॥

क्रमेणोदाहरति—पञ्चानन इति । हिमवद्भूविहारकृत् = हिमवद्भूः

पार्वती हिमालयभूमिश्च, तत्र विहारकृत् पञ्चाननः, 'हर्यक्षः केसरी भारिः पञ्चास्यो नखरायुधः' [१२८४ श्लोक] । इति हैमः । शिवः सिंहश्च, पञ्चं विस्तीर्णमाननं यस्येति व्युत्पत्तेः । अत्र शिवस्य प्रकृतत्वाद् अप्रकृतसिंहपक्षो व्यङ्ग्यः, प्रकृताप्रकृतयोः साम्यं वा व्यङ्ग्यम् । अत्र श्लिष्टशब्दयोः परिवृत्त्य-सहत्वाच्छब्दशक्तिमूलत्वम् ॥६॥

हिमवद्भूविहारकृत् पञ्चाननः विजयते' वाक्य में प्रकरणगत शिव विषयक अर्थ प्रतीत होने के अनन्तर सिंहविषयक अर्थ और प्रकृति से उसके सादृश्य की प्रतीति व्यंजना के द्वारा होती है । इस वाक्य में श्लिष्ट शब्दों का परिवर्तन होने पर व्यंजना की संभावना न होने के कारण इसे शब्द-शक्ति-मूला व्यंजना कहा जाएगा ॥६॥

भाति भूतिकृतच्छायः प्रभुः सर्वप्रियङ्करः ।

इतरोऽप्यत्र वाक्यार्थः शब्दार्थव्यक्तिकल्पितः ॥७॥

सूचीकटाहन्यायेनादावुभयशक्तिमूलामुदाहरति—भातीति । भूति-कृतच्छायः भस्मकृतशोभः समृद्धिकृतताया भावश्च, सर्वप्रियङ्करस्त्रैलोक्यप्रिय-कर्ता जनपदप्रियकर्ता च प्रभुः शिवो राजा च भातीत्यन्वयः । अत्राप्यपदस्य परिवृत्त्यसहत्वाद् द्वितीयतृतीययोः परिवृत्तिसहत्वाच्चोभयशक्तिमूलत्वमिति बोध्यम् । शेषं पूर्ववत् ॥७॥

'भाति भूतिकृतच्छायः प्रभुः सर्वप्रियङ्करः' वाक्य में प्रकरणगत राजा-विषयक अर्थ की अभिधा द्वारा प्रतीति होने के अनन्तर शिवविषयक अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति तथा प्राकरणिक अर्थ से साम्य की प्रतीति व्यंजना द्वारा होती है । इस वाक्य में 'भूति' पद को परिवर्तित, करने से सम्पत्ति और भस्म अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, तथा 'छायः' और 'सर्व' शब्द का परिवर्तन करने पर भी व्यंग्यार्थ प्रतीति में बाधा नहीं होती, अतः यहाँ शब्द-शक्ति-मूला और अर्थ-शक्ति-मूला अर्थात् उभय-शक्तिमूला व्यंजना मानी जाएगी ॥७॥

शिवप्रसादशिखरे सानन्दान् पश्य पक्षिणः ।

अत्र देशविविक्तत्वमर्थादेव प्रतीयते ॥८॥

शिवेति । अत्र पक्षिणां सानन्दत्वात् त्रासाभावो गम्यते, तेन च जनसञ्चाराभावप्रतीतिः, ततश्च पूजोपयोग्यस्थलमिति गम्यते, ततो गन्तव्यमिति ॥८॥

शिवप्रसादशिखरे सानन्दान् पश्य पक्षिणः' [शिवालय के शिखर पर सानन्द बैठे हुए पक्षियों को देखो] वाक्य में पक्षियों के सानन्द होने के कारण उनमें भय के अभाव की तथा उसके कारण के रूप में जन-संचार के अभाव की प्रतीति होती है, फलतः यह एकांत-पूजा और साधना का स्थल है ।' इस अर्थ की प्रतीति अर्थ के द्वारा होती है, अतः यहाँ आर्थी व्यंजना मानी जायेगी ॥८॥

रेवावारीशलिङ्गानि पुष्पिता यत्र पादपाः ।

धन्यः स देश इत्यत्र पूजौत्सुक्यं प्रतीयते ॥९॥

रेवेति । देशस्य धन्यत्वाभिधानात् पूजोपयोगिवस्तुगणनेन पूजाभिलाषित्वं व्यज्यते शिवभक्तिश्चेति ॥९॥

'रेवावारीशलिङ्गानि पुष्पिताः यत्र पादपाः धन्यः स देश' [रेवा नदी का जल शिवलिङ्ग और पुष्पित वृक्ष जिस देश में हैं, वह देश धन्य है ।] इस वाक्य में देश को धन्य कहने के कारण और पूजा की उपयोगी वस्तुओं के परिगणन के कारण पूजा का अभिलाषी होने और उससे शिवके प्रति भक्ति की व्यंजना द्वारा प्रतीति होती है । यहां व्यंजना देश-वैशिष्ट्य का सहायता से प्रगट होती है ॥९॥

माघाद् विभ्यतु माघोऽयं यत्र रात्रिः शिवप्रिया ।

अत्र कालस्य वैशिष्ट्याद् व्रते भक्तिः प्रतीयते ॥१०॥

देशवैशिष्ट्यमुक्त्वा कालवैशिष्ट्यमुदाहरति—माघादिति । अघात्तापाद्

मा बिभ्यतु इत्युक्ते व्रतमहिमातिशयो व्यज्यते, तेन च व्रते भक्तिः, ततश्च शिवे भक्तिरिति कालस्य वैशिष्ट्यादिसाधारण्यादित्यर्थः ॥१०॥

‘माघाद् बिभ्यतु माघोऽयं यत्र रात्रिः शिवप्रिया’ यह माघ मास है, जिसमें शिव-रात्रि है, अतः अघ अर्थात् ताप से मत डरो] वाक्य में शिव व्रत की अतिशय महिमा की प्रतीति व्यंजना द्वारा होती है, तथा उससे व्रत में भक्ति और शिव में भक्ति की व्यञ्जना होती है। इस उदाहरण में व्यंग्यार्थ की प्रतीति, काल [समय] की सहायता से हाती है ॥१०॥

शीघ्रमाहर वन्यानि पुष्पादीनि निशामुखे ।

शिवप्रियत्वं वन्येषु प्रस्तावादवगम्यते ॥११॥

शीघ्रमिति । प्रस्तावात् प्रकरणात्, श्रोतृवक्तृबुद्धिस्थं प्रकरणम्,

वन्येषु यादृशी प्रीतिर्वर्तते परमेशितुः ।

उत्तमेष्वपि नास्त्येव ग्रामजेषु तु तादृशी ॥

इति शिवगीतोक्तेरिति भावः ॥११॥

‘शीघ्रमाहर वन्यानि पुष्पादीनि निशामुखे’ [प्रदोष-काल में ही शीघ्र वन्य-पुष्प-फल आदि का चयन कर लो ।] वाक्य में प्रकरण की सहायता से वन्य पुष्प आदि के प्रति शिव के प्रेम की प्रतीति होती है ॥११॥

पुष्पैररण्यसम्भूतैः पत्रैर्वा गिरि सम्भवैः ॥

अपयुषित-निश्छिद्रैः प्रोक्षितैर्जन्तुवर्जितैः ।

आत्मारामोद्भवैर्वापि भक्त्या सम्पूजयेच्छिवम् ॥१७॥ (शिवधर्म)

वाटिकायां जनान् दूरान् कुरुतेत्याह शाम्भवः ।

विविक्तप्रियता तस्य वैशिष्ट्येन प्रतीयते ॥१२॥

वाटिकायामिति । अत्र वक्तुः शाम्भवस्य वैशिष्ट्यात् शिवपूजार्थं विविक्तरुचिः प्रतीयते ॥१२॥

‘वाटिकायां जनान् दूरान् कुरुते’ [बगीचे से लोगों को दूर कर दो]

शिव-भक्त के इस वाक्य से उसकी एकांतप्रियता का बोध व्यंजना द्वारा होता है। यह प्रतीति वक्तृवैशिष्ट्य के कारण हो रही है ॥१२॥

शिवं पूजयताजस्रं जुषध्वं सुखमीप्सितम् ।

कार्यकारणभावोऽत्र वाक्यवैशिष्ट्यबोधितः ॥१३॥

शिवमिति । अत्र हि तिङन्तवाक्यद्वयवैशिष्ट्यात् सुखे शिवपूजाजन्यत्वं व्यज्यते ॥१३॥

‘शिवं पूजयत अजस्रम् ईप्सितं सुखं जुषध्वं’ [शिव की पूजा करो और शाश्वत अभीष्ट सुख प्राप्त करो] इस वाक्य में कार्य-कारणभावविशिष्ट-वाक्यवैशिष्ट्य के कारण सुख शिव-पूजा से प्राप्त हो सकता है, इस अर्थ की व्यंजना द्वारा प्रतीति होती है ॥१३॥

शैवानां चेत् पुनर्जन्म सा हानिर्गिरिजापतेः ।

अभिधेयस्य वैशिष्ट्याद् भाति कैवल्यदातृता ॥१४॥

शैवानामिति । केवलस्याद्वितीयस्य भावः कैवल्यं निःश्रेयसम्, तदातृत्वं पशुपाशमोचकत्वमित्यर्थः ॥१४॥

‘शैवानां चेत् पुनर्जन्म सा हानिर्गिरिजापतेः’ [यदि शैव लोगों का भी पुनर्जन्म हो तो इसमें शिव की हानि है ।] इस वाक्य द्वारा वाक्य वैशिष्ट्य के कारण शिव भक्ति कैवल्य अर्थात् मोक्ष प्रदान करती है, इस अर्थ की व्यञ्जना द्वारा प्रतीति होती है ॥१४॥

एकाकिना मया काशी गन्तुं शक्या कथं द्विजाः ।

तदियं सहकारेच्छा सन्निधेरत्र गम्यते ॥१५॥

एकाकिनेति । सन्निधेर्जिगमिषूणां सहकारेच्छा ॥१५॥

‘एकाकिना मया काशी गन्तुं शक्या कथं द्विजाः’ [हे ब्राह्मण लोगो ! मैं काशी कैसे अकेले जा सकता हूँ] इस वाक्य में साथ जाने की इच्छा वाले

3735

भक्त जनों की सन्निधि के कारण सहकार की इच्छा व्यञ्जना द्वारा प्रगट होती है ॥१५॥

संसारकूपपतनं शम्भुभक्तस्य किं भवेत् ।

अत्र काकुप्रभावेण व्यज्यते मुक्तिदातृता ॥१६॥

संसारेति । अत्र किंशब्दे काकुर्बोध्या ॥१६॥

‘संसारकूप पतनं’ शम्भुभक्तस्य किं भवेत्’ [क्या शिवभक्त भी संसार-कूप में गिर सकता है ?] इस वाक्य में किम् शब्द द्वारा प्रगट काकु की सहायता से शिव मोक्षदायक हैं, इस अर्थ की व्यञ्जना द्वारा प्रतीति होती है ॥१६॥

मुमुक्षो भज भूतेशं संसारे मा मनः कुरु ।

मुक्तिदातृत्वमत्रापि भाति बोद्धव्यपाटवात् ॥१७॥

मुमुक्षो इति । बोद्धव्यपाटवात् संबोध्यवैशिष्ट्यादित्यर्थः ॥१७॥

‘मुमुक्षो भज भूतेशं संसारे मा मनः कुरु’ [हे मुमुक्षु भूतेश शिव की उपासना करो, संसार में मन मत लगाओ] इस वाक्य में बोद्धव्य अर्थात् श्रोता के वैशिष्ट्य के कारण शिव मोक्ष दायक हैं, इस अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा होती है ॥१७॥

वाच्यमूला व्यञ्जनैषा लक्ष्यगा^१ प्राक् प्रदर्शिता ।

उदाहृतेषु दूरार्थभाने व्यङ्ग्यगताप्यसौ ॥१८॥

वाच्यमूलेति । एषा उक्तप्रकारा व्यञ्जना वाच्यार्थमूला लक्ष्यगा लक्षणीयार्थगता प्रोक्तलक्षणानिरूपणे प्रदर्शिता लक्षणा प्रयोजनमस्य तदेकगम्यत्वादिति भावः । उदाहृतेषु वाक्येषु दूरतोऽर्थभाने सति एकस्मादर्थार्थान्तरं ततोऽप्यर्थान्तरमेवंविधे भाने सतीत्यर्थः । व्यङ्ग्यगता व्यङ्ग्यमूलाऽप्यसौ व्यञ्जना वेदितव्या ॥१८॥

उपर्युक्त उदाहरणों में वाच्यार्थमूला व्यञ्जना का प्रदर्शन किया गया

है । लक्षणा मूला की चर्चा पहले हो चुकी है । इन्हीं उदाहरणों में जहाँ एक व्यंग्यार्थ की प्रतीति के बाद अन्य व्यंग्य अर्थों की प्रतीति होती है, वहाँ व्यंग्यार्थ मूला व्यंजना भी है ॥१८॥

त्रिविधा वृत्तिरेकैव वैलक्षण्येऽपि वस्तुतः ।

इत्याहुः शाब्दिकास्तेषां भिन्नत्वे गौरवाद्भयम् ॥१९॥

त्रिविधेति । वैलक्षण्येऽपि परस्परविलक्षणत्वेऽर्थात्पर्यः । भिन्नत्वेऽनेक-वृत्तिस्वीकारे ॥१९॥

इस प्रकार वृत्तियाँ तीन हैं—इनमें वास्तविकरूप से परस्पर विलक्षणता होते हुए भी वृत्ति एक है, ऐसा शब्द-शास्त्र के कुछ आचार्य स्वीकार करते हैं, उनका कहना है कि तीन शब्द-व्यापार मानने पर गौरव-दोष होता है । अतएव एक ही अभिधा व्यापार के तीन प्रकार स्वीकार करने चाहिए । [उदाहरणार्थ—मुकुलभट्ट एक ही अभिधा व्यापार के मुख्य और लाक्षणिक दो भेद स्वीकार करते हैं । 'शब्दस्य च मुख्येन लाक्षणिकेन वाभिधा-व्यापारेणार्थावगतिहेतुत्वमिति ।' अभिधावृत्तमात्मिका, पृ० १] ॥१९॥

नित्यं निवासनिरतौ गङ्गायां भूषतापसौ ।

हिंसकाहिंसकौ दृष्टौ प्रकृतिर्हि बलीयसी ॥२०॥

तस्योदाहरणमाह—नित्यमिति । अत्र गङ्गापदेन प्रवाहतीरयोर्गुणदु-पस्थित्या न वृत्तिभेद इति भावः । २०॥

मच्छली और तपस्वी नित्यरूप से गङ्गा में निवास करते हैं, किन्तु उनमें से एक हिंसक है और दूसरा अहिंसक । वस्तुतः स्वभाव बलवान् है, यहाँ गङ्गापद से एक साथ प्रवाह और तीर का बोध होने से वृत्ति भेद मानना उचित नहीं है ॥२०॥

गङ्गायां वासिनौ नित्यं वैसारिणमहाद्रुमौ ।

न विमुक्तौ जडतया प्रकृतिर्हि सुधीत्वदा ॥२१॥

गङ्गायामिति । वैसारिणो मत्स्यः

मत्स्यो मीनः पृथुरोमा भूषो वैसारिणोऽङ्गः ।

सङ्घचारी स्थिरजिह्व आत्माशी स्वकुलक्षयः ॥ [१३४३ श्लो०]

इति हैमः । जडतया शीतलया च प्रकृतिरेव सुधीत्वदा सङ्गतिस्तु न तथेति भावः । अत्रापि गङ्गाशब्दः पूर्ववत् ॥२१॥

इसी प्रकार गङ्गा में नित्य निवास करने वाले महामत्स्य और महा वृक्ष जड़ होने के कारण मुक्ति नहीं प्राप्त कर पाते, क्योंकि 'सुधीत्व' (तत्त्वज्ञता) अपने स्वभाव के अनुसार ही प्राप्त होती है । यहाँ भी एक साथ गङ्गापद से प्रवाह और तट का भेद होने से वृत्ति भेद नहीं मानना चाहिये ॥२१॥

अत्र स्रोतसि तीरे च पावनत्वे च वर्तते ।

शक्तिभक्तिव्यक्तियोगाद् गङ्गाशब्दः सहैव यत् ॥२२॥

अत्रेति । शक्तियोगात् स्रोतसि भक्तियोगात्तीरे व्यक्तियोगात् पावनत्वे चेत्यर्थः ॥२२॥

उपर्युक्त उदाहरण में गंगा शब्द से प्रवाह तीर और पावनत्व तीनों की एक साथ ही प्रतीति हो सकती है । अभिधा से गंगा पद प्रवाह का वाचक है, भक्ति अर्थात् लक्षणा से तीर का बोधक है, और व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना से पावनत्व का ॥२२॥

अत्र तन्त्रेण वाऽऽवृत्त्या सहानेकार्थबोधकः ।

गङ्गाशब्दस्ततो वृत्तेरभेदो नैव सिद्ध्यति ॥२३॥

अत्रेति । सकृदुच्चरितमनेकार्थोपकारकं तन्त्रमिति तन्त्रावृत्त्योर्गुणद-
नेकार्थबोधकत्वेन वैयाकरणैः स्वीकृतत्वादिति भावः । ततो वृत्तेरभेदो नैव
सिद्ध्यति । भेदस्तु व्यक्त एवेति भावः ॥२३॥

एक बार उच्चरित शब्द [तन्त्र] से अथवा आवृत्ति के द्वारा गंगा पद अनेक अर्थ का बोध कराता है । दोनों ही स्थिति में एक ही शब्द

व्यापार सिद्ध नहीं होता । अर्थात् एक शब्द-व्यापार से अनेक अर्थ की प्रतीति में संगति नहीं रहती ।

इत्याहुरपरे भिन्ना भेदकल्पितौ हि गौरवम् ।

व्यवहारात् कार्यतश्च भेदो हि दुरपहवः ॥२४॥

इतीति । इति उक्तप्रकारेण, अपरे आलङ्कारिका आहुः, हि यस्माद् भिन्नायास्तस्या अभेदकल्पने गौरवं भवति । व्यवहाराद् अभिधालक्षणाव्यञ्जना-शब्दैर्व्यवहृतत्वात् । कार्यतः प्रातिस्विकार्थबोधनलक्षणाद् भेदो दुरपहवो निहोतु-मशक्य इत्यर्थः ॥२४॥

कुछ आचार्यों का वृत्ति-भेद के पक्ष में यह भी तर्क है कि परस्पर भिन्न तीन शब्द व्यापारों को अभिन्न मानने में ही वस्तुतः गौरव दोष होता है, क्योंकि व्यवहार द्वारा और कार्य द्वारा जब शब्द व्यापार में भेद दिखाई पड़ रहा है, तो उसका अपहव नहीं किया जा सकता ॥२४॥

अथाभिधा लक्षणा च वृत्तिरस्तु द्विधैव यत् ।

आद्यायां वा द्वितीयायां व्यञ्जनान्तर्भविव्यति ॥२५॥

मतान्तरमाह—अथेति । व्यञ्जनायाः शक्तौ भक्तौ वान्तर्भावोऽस्तु, तथा लाघव स्यादिति भावः ॥२५॥

नैयायिक आदि कुछ आचार्यों की मान्यता है कि अभिधा और लक्षणा दो ही शब्द व्यापार मानने चाहिए । इनमें से प्रथम अथवा द्वितीय में अर्थात् अभिधा अथवा लक्षणा में व्यञ्जना का अन्तर्भाव कर लिया जाएगा ॥२५॥

दीर्घदीर्घाभिधा व्यङ्ग्यानर्थान् बोधयितुं क्षमा ।

यत्परन्यायमाश्रित्य व्यङ्ग्यार्थस्यापि वाच्यता ॥२६॥

अभिधायामन्तर्भावं दर्शयति—दीर्घेति । दीर्घदीर्घेति अतिशयार्थे द्विर्भावः । यत्परेति । यत्परः शब्दः स शब्दार्थस्तेन व्यङ्ग्यार्थोऽपि वाच्यार्थ एव ॥२६॥

उनका कहना है कि जिस प्रकार बाण के दीर्घ और दीर्घतर व्यापार आवरण-भेदन, कवच-विदारण, शरीर-भेदन और प्राण-हरण आदि होते हैं, उसी प्रकार शब्द के दीर्घ दीर्घतर अभिधा व्यापार के द्वारा ही व्यंग्य अर्थ की प्रतीति भी हो सकती है । वे आचार्य 'यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः' इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए व्यंग्य अर्थ को भी अभिधाव्यापार-वाच्य मानते हैं ॥२६॥

अथवा लक्षणा व्यङ्ग्यं प्रत्याययतु केवला ।

उभे वा स्वस्वविषये, न शक्यं कोविदैरिदम् ॥२७॥

लक्षणायामन्तर्भावमाह—अथवेति । प्रत्याययतु, बोधयतु उभे वाच्यं व्यङ्ग्यं च प्रत्याययतामित्यर्थवशाद्वचनपरिणामः ॥२७॥

उनका यह भी कहना है कि यदि अभिधा व्यापार व्यंग्यार्थ की प्रतीति में समर्थ न हो तो लक्षणा व्यापार द्वारा ही उसकी प्रतीति स्वीकार की जा सकती है । अथवा कहीं-कहीं अभिधा और लक्षणा दोनों मिलकर व्यंग्यार्थ की प्रतीति करा सकते हैं । इसलिए व्यञ्जना व्यापार की स्थापना करने की आवश्यकता नहीं है ॥२७॥

किन्तु काव्य-शास्त्र के आचार्य [कोविद] इन तर्कों को स्वीकार नहीं करते । उनका कहना है कि—

सकृदुच्चरितन्यायाद्वाच्यार्थे विरताभिधा ।

व्यङ्ग्योपपादनेऽशक्ता दीघदीर्घा न सा ततः ॥२८॥

उक्तार्थे हेतुं दर्शयति—सकृदिति । सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति, शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावादिति न्यायाद् वाच्यार्थमात्रविरामं प्राप्ता अभिधा व्यङ्ग्यार्थबोधनेऽसमर्था भवति, ततो दीर्घदीर्घा लक्ष्यव्यङ्ग्यप्रत्यायन-समर्था न भवतीत्यर्थः ॥२८॥

एक बार उच्चरित किया हुआ शब्द वाच्य अर्थ को प्रकट करा देता है और उसके साथ ही अभिधा-व्यापार विरत हो जाता है । अतएव वह अभिधा

व्यंग्य अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ नहीं है । इसीकारण अभिधा व्यापार दीर्घ और दीर्घतर नहीं हो सकता, अतः वह लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकता ॥२८॥

यत्परन्यायपक्षे च शब्दार्थत्वं विधीयते ।

तात्पर्येण न वाच्यत्वं ततो व्यंग्यत्वमस्तु तत् ॥२९॥

यत्पर इति । यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति मतेऽपि तात्पर्यविषयीभूत-
स्यार्थस्य व्यङ्ग्यत्वमेव विधीयते, न तु वाच्यत्वमित्यर्थः ॥२९॥

‘यत् परः शब्दः सः शब्दार्थः’ का यह तात्पर्य नहीं है कि शब्द से अनन्त अर्थ की प्रतीति होती है । यदि यह मान भी लिया जाए कि जिस प्रयोजन के लिए उसका प्रयोग किया गया है, वही उसका अर्थ है, तो भी यह सिद्ध नहीं होता कि वह तात्पर्य वाच्य ही है । वक्ता का तात्पर्य व्यंग्य भी हो सकता है । [वस्तुतः मीमांसा-शास्त्र के उपयुक्त वाक्य का तात्पर्य यह है कि किसी भी विधि वाक्य का केवल वही अर्थ होता है, जो पूर्व कथित विधि वाक्यों से प्रतिपादित नहीं है, और इसप्रकार जिस प्रतिपादित अर्थ के लिए वाक्य का प्रयोग हुआ है, वाक्य का वह अर्थ ही मानना चाहिये । क्योंकि ऐसा न मानने पर ‘यजेत्’ इत्यादि विधि वाक्यों का एक बार कथन होने के बाद ही पुनः कथन होने पर अधिकांश स्थलों पर पुनरुक्ति दोष की आशङ्का होगी] ॥२९॥

पौर्वापर्यादिभिर्भेदैर्व्यक्तिः शक्तेर्विलक्षणा ।

तत्रान्तर्भवितुं नार्हा धिया सम्यक् परीक्ष्यते ॥३०॥

पौर्वापर्येति । शक्तेः पूर्वत्व तदनन्तरभावित्वाद् व्यञ्जनाया अपरत्वम्, शक्तेरेकार्थबोधकत्वं व्यञ्जनायाश्च गतोऽस्तमर्क इत्यादौ युगपदनेकार्थबोध-
कत्वम् शक्तेः शब्दमात्राश्रयत्वं व्यञ्जनायास्तदर्थश्रयत्वमपोत्येवंविधैर्विशेषै-
र्व्यञ्जनायाः शक्तान्तर्भावो न युज्यत इत्यर्थः ॥३०॥

क्योंकि सर्व प्रथम अभिधा-व्यापार से अर्थ प्रतीति होती है, उसके बाधित होने पर लक्षणा व्यापार से, तथा दोनों व्यापारों से अर्थ प्रतीति होने के अनन्तर व्यञ्जना व्यापार से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। अतः व्यञ्जना को अभिधा या लक्षणा में अन्तर्भूत करना सम्भव नहीं है। अग्रिम कारिकाओं में इसी तथ्य का विवेचन किया जा रहा है ॥३०॥

शक्तिः पूर्वा परा व्यक्तिः शक्तिर्बोधस्य कारणम् ।

चमत्कारस्य च व्यक्तिः शक्तिः शब्दाश्रया परा ॥३१॥

व्यक्तिर्नानाश्रया शक्तिरेकार्था व्यक्तिरन्यथा ।

शास्त्रगम्या भवेच्छक्तिः प्रज्ञागम्या परा मता ॥३२॥

सर्वाधिकारिका शक्तिर्व्यक्तिः सुध्यधिकारिका ।

एवं परीक्षितेऽत्यन्तं व्यक्तिः शक्तेर्विलक्षणा ॥३३॥

शक्तिरिति ॥३१॥

व्यक्तिरिति ॥३२॥

सर्वेति । सर्वाधिकारिका सर्वगम्या, व्यक्तिस्तु सुधीबोध्यैव ॥३३॥

अभिधा-व्यापार से पहले अर्थ प्रतीति होती है और व्यञ्जना व्यापार से उसके बाद; अतः अभिधा में व्यञ्जना का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। अभिधा में व्यञ्जना के अन्तर्भाव संभव न होने के कुछ निम्नलिखित कारण और भी हैं—१. अभिधा से शब्द-बोध होता है और व्यञ्जना से चमत्कार प्रतीति। २. अभिधा केवल शब्दाश्रित है, और व्यञ्जना पद, पदावयव [प्रकृति प्रत्यय] वर्ण, वाक्य, पदार्थ, वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ आदि के आश्रित। ३. अभिधा से एक अर्थ की प्रतीति होती है, और व्यञ्जना अनेक अर्थों का बोध कराती है। ४. अभिधा शक्ति का बोध शास्त्र आदि से होता है और व्यञ्जना प्रतिभागम्य है। ५. अभिव्येयार्थ बोध के अधिकारी सभी हैं, जब कि व्यंग्यार्थबोध के अधिकारी केवल प्रतिभा-संपन्न सुधीगण हैं। इस

प्रकार परीक्षा करने पर विदित होता है कि व्यंजना अभिधा से सर्वथा विलक्षण है ॥३१-३३॥

सम्बन्धनियतत्वेन लक्षणा तां न निर्वहेत् ।

यतः सा नार्थधारायां युगपद् वर्तितुं क्षमा ॥३४॥

व्यक्तेर्लक्षणायामन्तर्भावो न भवतीत्याह—सम्बन्धेति । लक्षणायाः शक्यसम्बन्धावश्यभावेन व्यञ्जनायाश्चातथात्वादिति भावः, सा लक्षणां युगपदर्थ-धारायां 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादावनेकार्थपरम्परायां युगपद् भवितुमशक्ता ॥३४॥

क्योंकि लक्षणा अ भेदार्थ से संबद्ध अर्थ की ही प्रतीति कराती है, साथ ही वह एक साथ अनेक अर्थों की प्रतीति नहीं करा सकती, अतः लक्षणा में भी व्यंजना का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता ॥३४॥

न गतार्थानुमानेन व्यञ्जना व्याप्त्ययोगतः ।

शब्दप्रमाणनिष्ठा तु व्यक्तिवृत्तिर्विलक्षणा ॥३५॥

व्यञ्जनाया अनुमानप्रमाणेऽन्तर्भावो न भवतीत्याह—नेति । व्यञ्ज्य व्यंजनयोः साहचर्य-नियमाभावादनुमानप्रमाणेन सकलव्यंग्यप्रत्यायनासम्भवादित्यर्थः । फलितार्थमाह—शब्द इति । व्याप्त्ययोगतः (साहचर्यनियमो व्याप्तिः) ॥३५॥

महिममट्ट आदि कुछ आचार्य व्यंजना का अन्तर्भाव अनुमान में करना चाहते हैं किन्तु अनुमान प्रमाण की गति वहीं होती है, जहाँ हेतु और साध्य में व्याप्ति सम्बन्ध हो । वाचक शब्द और व्यंग्यार्थ में कोई व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है, अतः अनुमान में व्यंजना का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता । फलतः शब्द प्रमाण व्यञ्जना व्यापार अभिधा, लक्षणा और अनुमान से सर्वथा विलक्षण है ॥३५॥

एवं प्रदर्शितास्त्रिस्तः पदानामेव वृत्तयः ।

तासां प्रयोगेऽङ्गीकारात् प्राग्विभक्त्युदयात् तु न ॥३६॥

एवमिति । पदानामिति । न तु प्रातिपदिकानां धातूनां चेति भावः ॥३६॥

इस प्रकार पूर्व प्रदर्शित तीन वृत्तियाँ पदों में रहा करती हैं । ये शब्द-व्यापार क्योंकि प्रयुक्त शब्द-निष्ठ हैं, अतः विभक्ति योजना से पूर्व धातु और प्रातिपदिक आदि में इनकी सत्ता नहीं मानी जाती ॥३६॥

विभक्त्यनुदयेऽर्थेषु संकेतस्तु न वार्यते ।

शब्दस्य द्विविधस्यापि नामधातुप्रभेदतः ॥३७॥

विभक्तीति । धातुप्रातिपदिकयोः संकेतमात्रसत्त्वे विभक्त्युदये सति व्यापारोदयादिति भावः । यद्यपि धातूनां लाक्षणिकार्थसम्भवोऽप्यस्ति, तथापि विभक्त्युदयात् प्राक्तत्प्रतीतेरभावान्न विरोधः ॥३७॥

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जहाँ भी विभक्तियों का प्रयोग होता है, वहाँ उन विभक्तियों के प्रयोग से पूर्व शब्दों में संकेत नहीं है । क्योंकि नाम और धातु दोनों में ही शास्त्रों द्वारा संकेत का निर्देश किया गया । [उपयुक्त कथन का केवल इतना ही तात्पर्य है कि 'अपदं न प्रयुंजीत' सिद्धान्त के अनुसार बिना विभक्तियों के शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता और इसके फलस्वरूप उनसे अर्थ-बोध का अवसर नहीं मिल सकता] ॥३७॥

सत्तायामेव संकेतो नाम्नो धातोश्च दर्शितः ।

अद्वैतवादिभिः सैव जात्यादित्वेन संमता ॥३८॥

वेदान्तमते विशेषमाह—सत्तायामिति । तस्या एव जात्यादिरूपत्वादिति भावः ॥३८॥

प्रत्येक नाम एवं धातु शब्दों में वस्तुओं अथवा क्रियाओं की सत्ता के प्रति ही संकेत स्वीकार किया गया है । अद्वैत वेदान्त के अनुयायी भी इसी सत्ता को जाति आदि के रूप में स्वीकार करते हैं ॥३८॥

विभक्तेरुदये सैव प्रयुक्तेन निरूप्यते ।

नाम्ना वा धातुना वापि वर्णिताभिस्तु वृत्तिभिः ॥३६॥

विभक्तेरिति । सैव सत्तैवेत्यर्थः ॥३९॥

धातु आदि में निर्दिष्ट सत्ता आदि अर्थ की प्रतीति नाम अथवा धातुओं से विभक्ति का प्रयोग करने ने बाद विभक्त्यन्त प्रयुक्त शब्द से पूर्व वर्णित व्यापारों द्वारा होती है ॥३९॥

सा सत्तैव परं ब्रह्म शब्दो ब्रह्म परं स्मृतम् ।

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये इति श्रुत्यनुशासनम् ॥४०॥

सेति । सार्थत्रयरूपेत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परञ्च यत् ।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति । इति ॥४०॥

व्याकरण-शास्त्र के आचार्यों के अनुसार त्रिविध अर्थ रूप वह सत्ता ही परब्रह्म है, और शब्द भी परब्रह्म है, और इसीलिए द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये इत्यादि वैदिक निर्देश दिया गया है । जैसा कि कहा है—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परञ्च यत् ।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥इति॥

अर्थात् दो ब्रह्म हैं, जिन्हें जानना चाहिए । प्रथम शब्द ब्रह्म और द्वितीय पर-ब्रह्म । जो शब्द ब्रह्म को जान लेता है, वह पर ब्रह्म को भी प्राप्त कर लेता है ॥४०॥

शब्दब्रह्मविचारेण परं ब्रह्मावगम्यते ।

शब्दवृत्तिविचारोऽयं कृतस्तेऽस्माच्छिवप्रदः ॥४१॥

शब्दब्रह्मेति । शिवप्रदः कल्याणदायकः, यथाह भगवान् भाष्यकारः—

‘एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति’ इति—

क्योंकि शब्द ब्रह्म का विचार करने से परब्रह्म की प्राप्ति होती है, अतः शब्द-व्यापार के सम्बन्ध में किया गया यह चिन्तन तुम्हारे लिए कल्याणकारी हो ॥४१॥

शिवस्य भक्त्या समवाप्तसिद्धि-

धीनीरधी रामजिभट्ट आसीत् ।

तत्सूनुनाशाधरभट्टनाम्ना

ग्रन्थः कृतोऽयं सुधियां मुदेऽस्तु ॥४२॥

शिवस्येति । अन्ते शिवशब्दो मङ्गलार्थः ॥४२॥

इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारावारीणरामजिभट्टात्मजाशाधरभट्टविर-
चितायां^१ कादम्बिनीसमाख्यायां स्वकृतकोविदानन्दव्याख्यायां
व्यंजनापरिच्छेदस्तृतीयः ॥ सटीकः कोविदानन्दः समाप्तः ॥

शिव की भक्ति से सिद्धि को प्राप्त बुद्धि के समुद्र श्री रामजी भट्ट थे ।
आशाधर भट्ट नामक उनके पुत्र द्वारा किया गया यह ग्रंथ विद्वानों को आनन्द
देने वाला हो ॥४२॥

व्याकरण, मीमांसा और न्याय के पारंगत विद्वान् रामजीभट्ट के पुत्र
आशाधर भट्ट विरचित 'कोविदानन्द' में 'व्यक्ति-निर्णय' नामक तृतीय
परिच्छेद पूर्ण हुआ ।

इति श्री अदस्थ्युपाह्वस्य पण्डितलक्ष्मणशर्मणः पौत्रेणा ब्रह्मनिष्ठस्य
श्री रविनाथशर्मणः पुत्रेण महमहोपाध्यायडाक्टरादिविविधोपाधिभाजा विविध-
विद्यापारङ्गतेन ब्रह्ममित्रावस्थितना तत्पुत्र्या इन्दुकुमार्या च कृता कोविदानन्द
दापिका सम्पूर्णा ।



१. कादम्बिनी मेघमालेति हैमः । कादम्बिनीव कादम्बिनी । यथा मेघ-
माला कुत्रचिद् घनीभूता कुत्रचिच्च स्वल्पा तद्वदियमपि श्लोकेष्विति ।

कोविदानन्दस्थार्थश्लोकानुक्रमणी

श्लोकाः	पृष्ठांकाः	श्लोकाः	पृष्ठांकाः
अक्षोरुद्राय	३९	अविनाभावतः	१८
अखण्डशब्दे	२४	अविशिष्टस्य	४५
अजो जयति	१०	अश्रुलो	१४
अजो हरी (टीका)	१०	असम्पादयतः (टीका)	१६
अज्ञातस्योपयोगित्वम्	४	असाधो	५
अत्र काकु०	५३	अस्त्रमन्त्रितबाणस्य	४७
अत्र कालस्य	५०	अस्याः कारणता	४८
अत्र तन्त्रेण	५५	आकृतिग्रहणा० (टीका)	१९
अत्र देशविवक्तत्वं	५०	आद्यायां वा	५६
अत्र व्यञ्जनया	४८	आधाराधेय०	४०
अत्र स्रोतसि	५५	आधेयश्च (टीका)	१८
अथवा लक्षणा	५७	इतरोऽप्यत्र	४६
अथाभिधा	५६	इत्यादौ क्रमतो	१७
अद्वैतवादिभिः	६१	इत्याहुः शाब्दिका	५४
अनश्यद् (टीका)	४१	इत्याहुरपरे	५६
अनुविद्धः	१६	इदं लिङ्गम्	१३
अनेकलक्ष्य०	१०	इह साधु	४०
अन्यस्याम्	४३	उत्तमेष्वपि (टीका)	५१
अन्यैः शक्यान्वय०	३०	उदाहृतेषु	५३
अन्योऽयः	६	उपमानप्रमाणम्	६
अभिधा लक्षणा	२२	उपाधिभिश्च	१८
अभिधेयस्य	५२	उभयत्र	२६
अमिश्रिता	६	उभे वा	५७
अयमर्थः	५	उभेति मात्रा (टीका)	७
अर्थस्यान्वय०	२२	एकाकिना	५२
अर्थाश्रयत्वात्	३१	एकेनानेक०	४
अलंकारविदां	२३	एकोऽर्थः	६

श्लोकाः	पृष्ठांकाः	श्लोकाः	पृष्ठांकाः
एतास्तिस्रः	२२	तत्रान्तर्भवितुम्	५८
एतेषां	४३	तत्सूनुना	६३
एवं परीक्षिते	५६	तथाप्येकत्र	१०
एवं प्रदर्शितास्तिस्रः	६०	तदियं	५२
एवं साध्यवसानायाम्	४३	तद्वशात्	११
एषा शब्दगतै०	४७	तद्वाच्य०	४०
ओङ्कारलिङ्गम्	२६	तद्विशिष्टाऽथवा	१६
करोमि	२	तन्नागभूषणम्	३३
कविः (टीका)	७	तन्मते	५
कार्यकारणभावाद्	३६	तस्मिन् (टीका)	७
कार्यकारभावोऽत्र	५२	तात्पर्येण न	५८
क्रमेण दर्शिता	३४	तात्पर्याख्यापि	३४
क्रियोक्ता	१५	तादर्थ्यादिह	३९
क्वचिद्	२६	ताद्रूप्याभेदयोराहुः	४५
गङ्गायाम्	५४	तावेवायुत (टीका)	४१
गङ्गाशब्द०	५५	तासां प्रयोगे	५६
गुञ्जन्	४०	तेन व्यापार	२
गुणक्रिया	४१	त्रिनयन	१
गुणाश्रया	२५	त्रिविधापि	३१
गौः शुक्लः	१७	त्रिविधा वृत्ति०	५४
ग्रन्थं (टीका)	१	त्रिविधैषा	२३
चमत्कारस्य	५६	त्रैविध्यमेतत्	२८
चातुर्विध्याद् (टीका)	१६	दर्शिताः	६
जयति	१	दिवकरस्तरुणः (टीका)	७
जानिष्यक्स्या०	२०	दीर्घदीर्घा	५६
जात्या गुणेन	१५	देवस्त्रिनेत्रो	१२
जात्यादिष्वथवा	१६	देशं कालञ्च	११
ज्ञातस्यैवोप०	३	देशकाल०	४६
ज्ञेया साध्यवसाना	३५	द्वे ब्रह्मणी	६२
द्वित्यादि	१६	द्वे ब्रह्मणी (टीका)	६२
तत्तु शब्दान्तरा०	४७	द्वयक्षरम्	४०

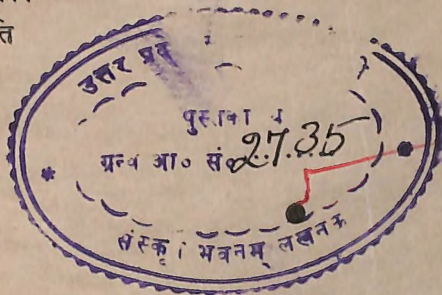
श्लोकाः	पृष्ठांकाः	श्लोकाः	पृष्ठांकाः
धन्यः स देशः	५०	फलिनी गौण०	३८
नखेन (टीका)	२६	फलिनी शुद्ध०	३७
न गतार्थानुमानेन	६०	बहुष्वर्थेषु	६
न तामन्ये	२४	बाणवत्	०
न तु तेष्वेव	१६	बोधानुकूला	२२
न विमुक्तौ	५४	भवो भवति भव्याय	७
न सोऽस्ति (टीका)	१६	भाति भूति	४६
नानार्थ शब्द०	११	मर्चिका (टीका)	३७
नाम्ना वा धातुना	६२	मत्स्यो मोनः (टीका)	५५
नित्यम्	५४	माघाद् बिभ्यतु	५०
निरुद्धा गौण०	३६	मिश्रो भयत्वमाकांक्षे	२४
निरुद्धा भक्ति०	३४	मुक्तिदातृत्वम्	५३
निरुद्धा शुद्ध०	३६	मुक्तिः शिवस्य	३७
नेच्छन्ति व्यञ्जनामन्ये	२३	मुख्यस्यार्थस्य	४३
पञ्चाननो	४८	मुमुक्षो भज भूतेशम्	५३
पार्वत्यम्बा	६	यतः प्रफुल्लाः	२६
पूजितो जयति	१३	यतः सा नार्थधारायाम्	६०
पौवापर्या०	५८	यत्परन्यायपक्षे	५८
प्रणम्य (टीका)	१	यत्परन्यायमाश्रित्य	५६
प्रथमं दर्शितः	२१	यदृच्छा टीका अमर ३:२२५४)	१६
प्रथमा त्रिविधा	२४	यदृच्छाशब्दवत् (टीका माघ)	१६
प्रदोषे	३२	योग्यताजनको	३
प्रमाणत्वेन	२	यः श्रुत्योः	३३
प्रमाणादि०	१८	रुद्रस्य सेवका	३६
प्रमाणान्तरगम्ये	१९	रूपकातिशयो०	४४
प्रवर्तकोपदिष्टा	५	रूपकादिषु	४४
प्राचां	२	रेवावारीशलिङ्गानि	५०
प्राधान्याद्	४८	लक्ष्येऽवधारितस्येव	३
प्रायो व्याकरणम्	६	लाघवात्	१६
प्रासादाः	३२	लाघवादेक	५
प्लुतिस्तु	२८	लिङ्गसंख्या०	२०

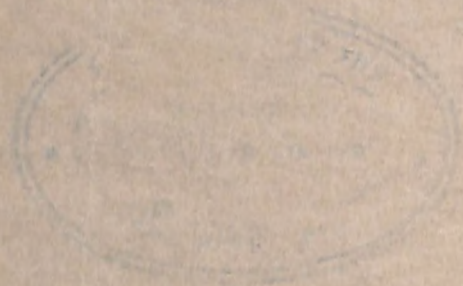
श्लोकाः	पृष्ठांकाः	श्लोकाः	पृष्ठांकाः
वक्तृवाक्यादि	४८	शब्दप्रमाणनिष्ठा	६०
वक्ष्येषु (टीका)	५१	शब्दब्रह्मविचारेण	६२
वर्णव्यत्ययतः (टीका)	२४	शब्दब्रह्मणि (टीका)	६२
वर्ण पदम्	४८	शब्दवृत्तिविचारोऽयम्	६२
वाच्यमूला	५३	शब्दस्य	६१
वाच्यलक्ष्याति०	४७	शब्दानां	२२
वाटिकायाम्	५१	शब्दार्थः	२०
विभक्तिवाच्यता	२१	शब्दावयवयोगेन	२५
विभक्तेरुदये	६२	शब्दैरेभिः (टीका)	१६
विभक्त्यनुदये	६१	शाब्दिकैः सा	२२
विरुद्धा	४०	शास्त्रगम्या	५६
विविक्तप्रियता	५१	शास्त्रादेशातिसंकेतः	३
विशिष्टबुद्धिजनक	४२	शास्त्रादेशातिसंकेता	२२
वृत्तिः संकेतयोः	२८	शिवं पूजयताजस्रम्	५२
वेगेनैकेन	१०	शिवप्रासादशिखरे	५०
व्यवितम्	११	शिवप्रियत्वम्	५१
व्यक्तिर्नानाधया	५२	शिवस्य भक्त्या	६३
व्यक्तिनष्टेव	१७	शिवं पूजयता	५२
व्यक्तेरेव	२०	शिवपूजा मम प्राणाः	२८
व्यंग्योपपादने	५७	शिवं भजेत्	३६
व्यतिरेकोऽपि	४२	शिवं स्मरे	२४
व्यवहारात्	५६	शीघ्रमाहुर	५१
व्याख्यानम्	६	शैवानां चेत् पुनर्जन्म	५२
व्यापारा०	३	स ईश्वरकृतः	५
शक्तिभक्ति०	५५	सकृत्प्रयुक्तः	६
शक्तिः पूर्वा०	५६	सकृदाख्यात०	२०
शक्यलक्ष्य०	२३	सकृदुच्चरित०	५७
शक्यलक्ष्यार्थ	३०	संकेतग्रहणे	६
शक्यार्थबाधे	२८	संकेतमेव	४
शंकरः स्तूयतामेवम्	२६	संकेतशक्य०	४७
शब्दप्रमाणगा	४१	संकेतस्तु	१५

श्लोकाः	पृष्ठांकाः	श्लोकाः	पृष्ठांकाः
संकेतस्मारकात्	११	साध्वोऽजः	१०
संकेतस्य	२८	सान्निध्यकाकु०	४८
संकोच उभयी	२८	सामात्यम्	१५
संघचारी (टीका)	५५	साम्बः	६
संयुक्तत्व	११	सारोपायासु गुणाः	४३
स तौ (टीका रघु० १५, ३९)	७	सारोपायान्तु	४३
सत्तायामेव संकेतो	६१	सारोपा सा	३५
सत्त्वे (टीका)	१८	सा सत्तैव	६२
सद्योऽर्थ०	३	सिद्धान्तल (टीका)	३७
स नित्यम्	४१	सेव्यः स्मरिपुः	१३
सम्बन्ध एव	३१	संयुक्तत्वे	१४
सम्बन्धनियतत्वेन	६०	संसारकूप०	५३
सम्बन्धजापि	२६	संयोगो	४२
सम्बन्धबुद्धि०	४१	सेव्यः स्मररिपुः	१३
सम्बन्धास्तरतो	३९	स्तुवन्ति	३१
सर्वत्र सम्भवात्	१९	स्त्रीपुंसयोः	४
सर्वनामविशिष्टस्य	४५	स्त्रीरत्नन्	३६
सर्वाधिकारिका	५१	स्थानुं भजस्व	१२
म वाचको	२३	स्थागुर्जयति	१३
सादृश्यमपि	४२	स्युत्तरपदे (टीका)	३७
सादृश्यश्लथता०	४४	स्वयम्भूः	२६
सादृश्यातिशयो०	४४	हिसकाहिसकौ	५४
सादृश्ये सति	३६	हिसिधातोः (टीका)	२४

कोविदानन्दकादम्बिन्यामुद्धताः ग्रन्थाः

ग्रन्थाः	पृष्ठांकाः
अभिधानचिन्तामणिः	३७
अमरकोषः	३७, ४८
अष्टाध्यायी	१, १७, २९, ३७
कालिका पुराणम्	७, ८
कुमारस्सभवम्	७,
निरुक्तम्	७
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली	४१
न्यायसूत्रम्	२०
महाभाष्यम्	१८
रघुवंश	७
वाक्यपदीयम्	१६, १८
वैजयन्ती	३७
वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी	१६, २०
शिवगीता	५१
शिशुपालवधम्	१६
शुक्लयजुः प्रातिशाख्यम्	२४
हैमकोषः	४९, ५५
स्मृति	३६





Some important works of Dr. B. M. Awasthi

1. Bharatiya Nyaya Shastra Ek Adhyayana	Rs. 30.00
2. Kathopanishad-Bhashya	Rs. 5.50
3. Tattvat Traya of Lokacarya, with English Hindi Translation	Rs. 12.00
4. Darpadalana of Kshemendra—A Study and Translation in Hindi	Rs. 20.00
5. Subodhalankara (Pali) of Samgha Rakkhita with Sanskrit Hindi Translation	Rs. 15.00
6. Svabhashalankara (Siyabasalakura Simhali) Sanskrit Hindi Translation	Rs. 15.00
7. Abhidha Vritta Matrika—with a Study and Commentary in Hindi	Rs. 15.00
8. Sabda-Vyapara-Vicara of Mammat with Deepika Commentary	Rs. 15.00
9. Vritti-Vartika of Appaya Dikshit with Deepika Commentary	Rs. 15.00
10. Kovidananda of Ashadhara Bhatta with Deepika Commentary	Rs. 15.00
11. Trivenika of Ashadhara Bhatta with Deepika Commentary	Rs. 15.00
12. Vritti Samuccaya Vol. I Part I	Rs. 50.00
13. Vritti Samuccaya Vol. I Part II	Rs. 25.00
14. Patanjala Yoga Shastra Ek Adhyayana	Rs. 40.00
15. Patanjala Yoga Par Bauddha Dharma Ka Prabhava	Rs. 10.00
16. Sahitya-Darpana with Locana of Anantadasa and Hindi Translation and Commentary Paricched 1—2	Rs. 10.00
17. Rasa Kaustubha—of Venidatta with Hindi Translation	Rs. 15.00
18. Vakyartha Matrika-Vritti of Shalikanatha with an Introduction and Commentary in Hindi	in Press
19. Tatva Bindu of Vacaspati Misra, with an Introduction and Commentary in Hindi	in Press
20. Vakyartha Nirnaya of Parthsarathi Mishra with Sanskrit Commentary of Ramanuja and Introduction & Commentary in Hindi	in Press
21. Vritti Dipika of Mauni Krishanabhatta with an Introduction & Commentary in Hindi	in Press
22. Mahimabhatta Krita Kavyadosha Vivecan Ek Adhyayana	in Press